जैन भारती

वर्ष 48 • अंक 9 • सितम्बर, 2000

With best compliments from :

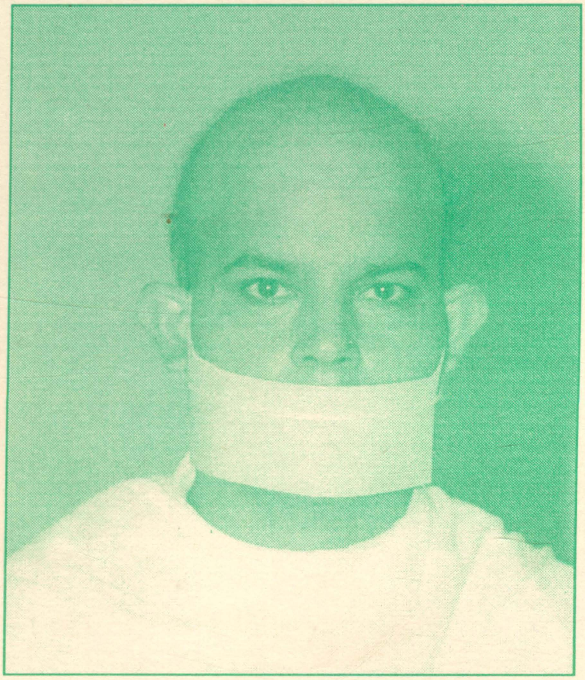

AMIT®
A CHOPRA PRODUCT
Mfg. Art Silk Sarees & Dress Material

AMIT - SYNTHETICS

Shop : W-3207, Surat Textile Market
Office : 402, Anand Market, Ring Road
SURAT 395002
Phone : 622076, 625680, 622027 Fax : 0261-636651

Pemchand Chopra Charitable Trust
W-3207, Surat Textile Market
Ring Road, SURAT

•

Jhamkudevi Chopra Charitable Trust
11-A,B, Sai Ashish Society
Udhaua Magdalla Road, SURAT

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

सितम्बर, 2000 वर्ष 48 अंक 9 रु. 15.00

विमर्श

9
नंद चतुर्वेदी
अहिंसा की सामाजिक ताकत

14
डॉ. अनुपम जैन
जैन आगमों में गणित

22
प्रो. दयानन्द भार्गव
अध्यात्म और सामाजिकता : आचार्य भिक्षु की दृष्टि में

•
आवरण
अडिग
एवं
दीपचन्द

अनुभूति

29
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
मैत्री : दृष्टि का रूपांतरण

32
आचार्यश्री तुलसी
गांठें खोलें

34
दयालचन्द्र सोनी
स्कूलें : एलीट क्लास का षड्यंत्र

38
कहानी
वेंकटेश माडगूलकर
नंगे पैर

40
मुनि मदनकुमार
क्षमा की सरिता : निमज्जन के क्षण

44
कविता
नन्दकिशोर आचार्य की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
आत्म-विश्लेषण के लिए

शीलन

47
साध्वी कनकश्री
पर्युषण : प्रेम और सहअस्तित्व का प्रशिक्षण

50
परिमिता पटवा लोढ़ा
शाकाहार का मर्म

52
बालकथा
मुनि सुमेरमल लाडनूं
राजकुमार एकचरण

55
जैन भारती पाठक पहेली

सदस्यता शुल्क
वार्षिक 125/- रुपये
त्रैवार्षिक 350/- रुपये
दसवर्षीय 1000/- रुपये

प्रधान कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कलकत्ता 700001

प्रकाशकीय कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

'मनुष्य की साधना का लक्ष्य है निरंतर अपने 'सर्वश्रेष्ठ' को प्रकाशित करना। जो अपने-आप जमा होता रहा है या हजारों वर्ष पहले हो चुका है, उसको व्यक्त करना मानव-साधना नहीं है। अपने सर्वश्रेष्ठ को नित्य प्रकाशित करने की शक्ति उसे धर्म से ही मिलती है। इसलिए मनुष्य अपने धर्म को बड़ी तपस्या के बाद अपनी श्रेष्ठता के चरम स्थान पर स्थापित करता है। लेकिन जब वह विपत्तिवश या मोहवश अपने धर्म को झुका देता है, तब धर्म की तरह विनाशकारी चीज दूसरी कोई नहीं हो सकती। उच्च स्थान से जो चीज हमें ऊपर उठाती है वही यदि निम्न स्थान पर हो तो हमें नीचे गिराती है। इसलिए यदि कोई देश धर्म को नीति के बदले रीति पर आधारित करे; बुद्धि के बदले संस्कार पर प्रतिष्ठित करे; यदि धर्म को अंतःकरण में आसरा देने के बदले उसे बाह्य अनुष्ठानों में आबद्ध करे; धर्म के अनुसार परिवेश को गढ़ने के बदले परिवेश के ही हाथों धर्म को समर्पित करे; धर्म की दुहाई देकर मानव-मानव में पार्थक्य निर्माण करे; एक वर्ग के घमंड को दूसरे वर्ग के सिर पर लादे; मनुष्य की सर्वोच्च आशा और अधिकार को संकुचित तथा खंडित करे—तो ऐसे देश को हीनता के अपमान से बचाना किसी सम्मेलन के लिए संभव नहीं; और न ऐसे देश की रक्षा वाणिज्य-व्यवसाय की उन्नति से या राजनीतिक इंद्रजाल से हो सकती है। ऐसे देश का यदि एक संकट से उद्धार हो तो वह दूसरे संकट से ग्रस्त होगा; यदि एक प्रबल पक्ष अनुग्रहपूर्वक उसका सम्मान करे तो दूसरा प्रबल पक्ष उसकी लांछना करेगा। जो अपने सर्वश्रेष्ठ को सर्वोच्च सम्मान नहीं देता उसे कभी उच्चासन नहीं मिल सकता। इसमें कोई संदेह नहीं कि धर्म के विकार से ही ग्रीस और रोम का पतन हुआ, और हमारी दुर्गति का कारण भी हमारे धर्म में ही मिलेगा, और कहीं नहीं। इसमें भी कोई संदेह नहीं कि यदि हमें अपना उद्धार करना है तो बाहर की ओर ताकने से या किसी बाह्य सुविधा का सहारा लेने से कोई लाभ नहीं। रक्षा के उपाय को अपने से बाहर ढूंढ़ना दुर्बल आत्मा की मूढ़ता है—ध्रुवसत्य तो यही है : 'धर्मो रक्षति रक्षितः '।'

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

('धर्म का अधिकार' से)

मोक्ष क्या है? सूक्ष्म शरीर से मुक्ति। उसके बिना स्थूल शरीर नहीं होता। उसके अभाव में इंद्रिय और मन नहीं होते। इनके बिना विषय ग्रहण नहीं होता। अभाव में राग-द्वेष नहीं होते। राग-द्वेष बिना कर्म-बंधन नहीं होता। बंधन के बिना संसार नहीं होता, जन्म-मरण की आवृत्ति नहीं होती। मोक्ष से संसार नहीं होता और संसार से मोक्ष नहीं होता, इसलिए मोक्षार्थी व्यक्ति को न जन्म की इच्छा करनी चाहिए और न मृत्यु की। उसके लिए अभिलषणीय है संयम। संयम से जीवन-मृत्यु की आवृत्ति का निरोध होता है। इसलिए वह मोक्ष का उपाय है। वह मोक्ष का उपाय है, इसलिए मोक्ष है।

जो असंयमी जीवन की इच्छा करता है उसे धर्म का परमार्थ नहीं मिला है। असंयममय जीवन और बालमरण ये दोनों अनभिलषणीय हैं। संयममय जीवन और पंडितमरण ये दोनों अभिलषणीय हैं।

'भिक्षु विचार दर्शन' से

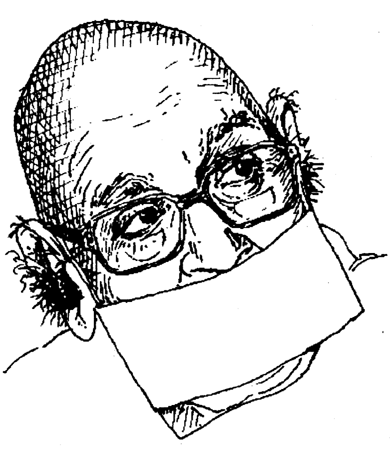

अगर आप चाहते हैं कि हम सुखी बनें, हमारा परिवार सुखी बने, तो बाहर भटकने की आवश्यकता नहीं है। वह तो आपके पास ही है। जहां कलह, ईर्ष्या, द्वेष, बेईमानी, अभिमान, परिग्रह है, वहीं नर्क है। और जहां भ्रातृभाव, स्नेह और आपसी प्रेम है, वहीं स्वर्ग है। आप हमें देखिए। हमारे पास कौन-सा कोष भरा पड़ा है। आप स्वयं सोचिए, जिनके पास दूसरे समय का खाना नहीं है; वे भी इतने सुखी क्यों हैं? उत्तर मिलेगा—उनके पास संतोष, श्रम, सौजन्य और आस्था है।

अणुव्रत आपके घर को स्वर्ग बनाना चाहता है। वह कहता है, जीवन को विकासोन्मुख करो; पारस्परिक प्रेम बढ़ाओ; आरंभ-समारंभ और परिग्रह में कमी करो; इनसे ज्यादा मोह मत रखो।

—आचार्यश्री तुलसी

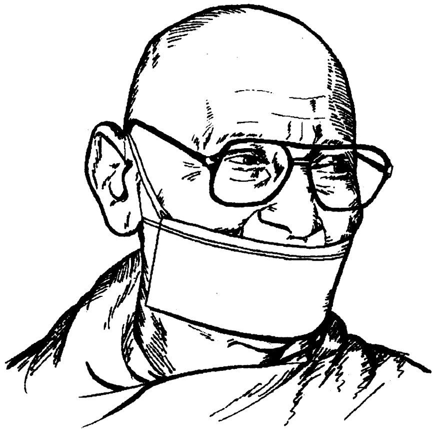

सामाजिक स्वास्थ्य के लिए बहुत जरूरी होता है कर्तव्य-बोध और दायित्व-बोध, कर्तव्य की चेतना का जागरण और दायित्व की चेतना का जागरण। आखिर दंड और यंत्रणा से कब तक कार्य चलेगा? क्या पूरे जीवनकाल तक आदमी नियंत्रण से ही रहेगा? क्या यह भय निरंतर सबके सिर पर सवार ही रहेगा? भयभीत समाज सदा रोग-ग्रस्त रहता है, वह कभी स्वस्थ नहीं हो सकता। भय सबसे बड़ी बीमारी है।

भय तब होता है जब दायित्व और कर्तव्य की चेतना नहीं जागती। जिस समाज में कर्तव्य और दायित्व की चेतना जाग जाती है उसे डरने की जरूरत नहीं होती।

जिन लोगों में दायित्व की चेतना जागृत हो जाती है, वे व्यक्ति उन बातों से ऊपर उठ जाते हैं। वे अपने चरित्र का निर्माण दायित्व के आधार पर करते हैं। जिन्हें दायित्व की अनुभूति हो जाती है, उन्हें दायित्व सौंपकर बदलने का प्रयत्न किया जाता है। लोग तो सोचते हैं कि यह व्यक्ति उसके योग्य नहीं था, फिर इस पर यह दायित्व क्यों डाला गया?

किंतु मैं यह अनुभव करता हूं कि दायित्व डालने पर उस व्यक्ति में सचमुच परिवर्तन आ जाता है। दायित्व की अनुभूति अवश्य होनी चाहिए। ऐसा व्यक्ति जिसे दायित्व का अनुभव न हो, उसमें भी परिवर्तन आने लग जाता है। चरित्र-निर्माण की दूसरी श्रेणी का हेतु है—दायित्व-बोध।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

आत्म-विश्लेषण के लिए

क्षमा करने वाला नहीं, मांगने वाला बड़ा होता है। अहंकार का विलोपन जब तक न हो जाए, तब तक क्षमा मांगना दुस्तर है। मन की निर्मलता और सरलता ही वे मुख्य कारक हैं जो अहंकार से मुक्ति में सहायक हो सकते हैं। क्षमा करना भी किन्हीं अंशों तक अहंकार-मुक्त होना ही है।

जैन समाज में आठ दिन के पर्युषण अथवा दसलक्षण पर्व के बाद जो क्षमा याचना एक-दूसरे से की जाती है, एक अनूठा अनुष्ठान हो सकता है यह, यदि इसमें अहंकार-मुक्त होकर क्षमा ली-दी जाए।

मैत्री और करुणा के बिना अहंकार से कोई मुक्त नहीं हो सकता, लेकिन जिस तीव्रता से वक्त करवट ले रहा है उसके चलते मैत्री-करुणा, मन की निर्मलता-सरलता सिद्धांत के स्तर पर भले बचे रहें, व्यवहार के स्तर पर इनका वजूद रिवाजी ही रहता प्रतीत होता है।

हमारे धर्मशास्त्रों में मैत्री और करुणा, राग-द्वेष और वैर-शत्रुता के लिए अनेकशः सूक्त मौजूद हैं, लेकिन ये सूक्त प्रेरणा-पुंज बनकर हमारे जीवन को आलोकित नहीं कर पा रहे। क्यों?

दो प्रमुख कारण समझे जा सकते हैं—गलती को छिपाना और दूसरों में सदा दोष देखना। वर्जना भी एक पहलू हो सकता है। बचपन में अक्सर वर्जनाओं का जाल ही बच्चों के चारों ओर बिछा होता है। बचपन में भोगी वर्जनाएं ही वे बाधक तत्त्व हैं जो सकारात्मक दृष्टिकोण के विकास में अवरोधक बने रहते हैं। बचपन की वर्जनाओं से कोमल बाल-मन में पैठी-पनपी कुंठाएं बुढ़ऊ होने तक भी पीछा नहीं छोड़तीं। ये ही वे स्थितियां हैं जो मैत्री और करुणा के वातायन को खुलने ही नहीं देतीं।

इसलिए जरूरी है कि गल्तियों को छिपाने की बनिस्बत उनका स्वीकार हो। गल्ती हिकारत में न बदले, अपितु स्वीकार का संस्पर्श पाकर वह परिमार्जित हो जाए। ऐसा होते ही दूसरों में दोष देखने की प्रवृत्ति स्वतः ही निर्मूल होती चली जाएगी।

मैत्री और करुणा की भित्ती को सुदृढ़ करने का दूसरा महत्वपूर्ण पहलू है वर्जना-मुक्त बचपन। बड़ों की मानसिकता में बदलाव आने से यह संभव हो सकता है और धर्म इस बदलाव का प्रभावी जरिया बन सकता है।

जब धर्मशास्त्रों में यह कहा गया है—

'मेरी सबके साथ मित्रता है, किसी से वैर-शत्रुता नहीं, मैंने सब प्राणियों को क्षमा किया है, मुझे भी सब क्षमा दान दें। मेरी वाणी का उपयोग इस जगत के मंगल के लिए हो, सारे द्वेष भस्मीभूत हो जाएं, हमारे व्यवहार का यही सहयोग हो।'

तब यह धर्म-जगत का ही तो दायित्व बनता है कि ऐसा वातावरण भी निर्मित किया जाए जिसमें उपरोक्त स्थितियां बन सकें। ऐसी स्थितियों का निर्माण करने में वर्जना-मुक्त बचपन सबसे अधिक सहायक हो सकता है और धर्म-जगत इसके लिए प्रेरक-उद्‌बोधक बन कर अपना दायित्व निभा सकता है। अतः पर्युषण और क्षमा याचना के इस पर्व पर इस दिशा में संकल्पपूर्वक कदम उठाए जाने की जरूरत है। धर्म-जगत इसके लिए समर्थ भी है और सक्षम भी।

सभी जानते हैं कि मैत्री और करुणा का पाठ बचपन में ही सीखा जा सकता है। बचपन में सीखा हुआ यह पाठ चिर-जीवन स्थिर भी रह सकता है। अतः मैत्री और करुणा का पहला पायदान बचपन है और धर्म-जगत के लिए यह चुनौती है कि वह सुखद भविष्य की खातिर उजड़ रहे बचपन को संजोए। इस बार क्षमा-याचना पर्व पर यदि ऐसा संकल्प सामने आता है तो यह एक ठोस कदम होगा।

अक्सर यह गलतफहमी हो जाती है कि मैत्री, करुणा और प्रेम की बात करने वाले लोग कायर होते हैं, यह एक मिथ्या धारणा ही है, पर यह भी साफ होना जरूरी है कि शौर्य, साहस और क्रूरता में बड़ा अंतर है। क्रूर व्यक्ति कभी करुणामय, प्रेममय नहीं हो सकता, इसके बरअक्स शौर्यवान में करुणा और प्रेम की सरिता संचरित हो सकती है। दरअसल करुणा और प्रेम शौर्य के अंगवस्त्र की तरह हैं।

कोई व्यक्ति शौर्यवान तभी कहलाता है जब उसका पराक्रम श्रेयस् में नियोजित हो। निहित स्वार्थों की संपूर्ति के लिए पराक्रम का उपयोग नहीं होता। वैसा पराक्रम क्रूरता में तब्दील हो जाता है और समाज में वह निंदित होता है। ऐसी स्थितियों से व्यक्ति और समाज को मुक्त कराने में धर्म और अध्यात्म की महती भूमिका हो सकती है। प्रश्न है—उसका निर्वहन किस विधि से हो और उसका असर कितने स्तर तक और कितनी अवधि तक रहे!

अन्य सभी विधाओं की तुलना में धर्म का प्रभाव आज भी समाज में सर्वाधिक है। राजनीति और सत्ता का प्रभाव तो इसलिए प्रतीत होता है कि उसके पास विधि और कानून के अधिकार होते हैं। व्यवस्था-संचालन में सत्ता और शासन को अपरिमित अधिकार मिले होते हैं—भले लोकतांत्रिक शासन प्रणाली ही क्यों न हो। अतः सत्ता और शासन के प्रभाव को एक बार अलग रख दिया जाए तो धर्म ही एक ऐसी विधा है जो समाज को सबसे अधिक प्रभावित कर रही है।

ऐसी स्थिति में समाज को दिशा देने में भी धर्म ही सर्वाधिक असरदार साबित हो सकता है। देखना सिर्फ यह है कि धर्म और ढोंग में अंतर किया जाए और वह अपनी भूमिका वास्तविक रूप से निर्भय और निर्लोभ रहते हुए पूरी करे।

पर्युषण और क्षमापना का पर्व आत्म-विश्लेषण का अवसर प्रदान करता है। आत्म-विश्लेषण केवल व्यक्ति करे और धर्म-संस्थाएं न करें—यह भला कैसे हो सकता है? अतः बुनियादी तौर पर धर्म-संस्थाओं के लिए यह अधिक प्रासंगिक है कि वे भी अपना आत्म-विश्लेषण करें। आज जो स्थितियां हमारे सामने मौजूद हैं और जिस तरह का जातीय-सांप्रदायिक उन्माद देश में बढ़ रहा है, उसके चलते ऐसा करना समय की अनिवार्यता भी है। अकेला व्यक्ति मूलतः करुणा और प्रेम की ही बात करता है, लेकिन ज्यों ही व्यक्तियों का समूह बनता है और निहित स्वार्थों की टकराहट पैदा होती है तो वहां क्रूरता पनपनी शुरू हो जाती है। अपने संतोष के लिए हम ऐसे समूहों को 'गिरोह' की संज्ञा दे सकते हैं, पर समाज में व्याप्त अशांति और अराजकता के कारक तो वे बन ही जाते हैं।

इसलिए यह आवश्यक है कि धर्म-संस्थाएं भी अपना आत्म-विश्लेषण करें। मैत्री, करुणा, प्रेम और सहजता के अनहद संसार का निर्माण हो—यही तो अभीप्सा है हर किसी की।

—शुभू पटवा

विमर्श

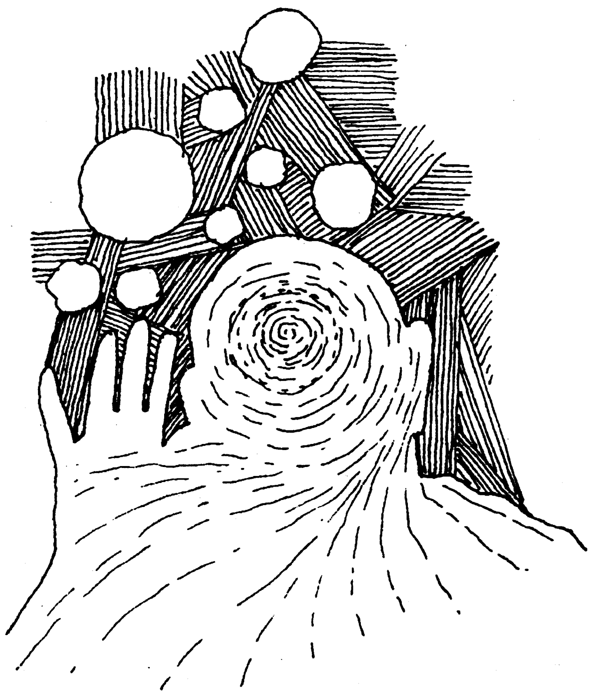

अगर हम मूल्यगत बात सोचते हैं तो हमारी आस्था इस तरह की होनी चाहिए कि विश्व की प्रक्रिया में मूल्य की प्रक्रिया निहित है। क्योंकि मूल्य यदि विश्व की प्रक्रिया में नहीं हैं तो मनुष्य में कहां से आएंगे? हमारी राजस्थानी में कहते हैं कि कुएं में पानी नहीं है तो खेली में कहां से आएगा? कुएं में है तभी तो खेली में आएगा। मनुष्य विश्व-प्रक्रिया का एक अंग है, बहुत ऊंचा अंग है—सर्वोच्च शिखर तक विकसित हुआ है, लेकिन है तो आखिर उसी प्रक्रिया का परिणाम। तो जहां हम ये आस्था लेकर चलते हैं कि सारी विश्व-प्रक्रिया परस्पर संबद्ध प्रक्रिया है, तो दूसरी आस्था यह अपने आप होती है कि ये प्रक्रिया मूल्य से जुड़ी हुई है उद्देश्यशील है, उद्देश्य को प्राप्त करने वाली है—कोई लक्ष्य है जिसको यह उपलब्ध करना चाहती है—और उस लक्ष्य की ओर चलने की प्रक्रिया में, इस यात्रा में, मनुष्य नाम का प्राणी पैदा हुआ है और उस मनुष्य के माध्यम से वह एक और ऊंचे लक्ष्य को प्राप्त करना चाहती है और मनुष्य उसका माध्यम है। तो ये मूल्यों की एक बुनियादी दृष्टि है।

—डॉ. छगन मोहता

अहिंसा की सामाजिक ताकत

❑ नंद चतुर्वेदी ❑

महावीर का सबसे महत्त्वपूर्ण सपना समता के आधार पर दुनिया की रचना करना था। देखने की बात यह है कि यह कोई परम वैराग्य की अवधारणा नहीं है। सचाई तो यह है कि जो कोई दुनिया को फिर से बनाना चाहता है, वह रहने की इच्छा से किसी न किसी तरह बंधा रहता है। उसे लगता है यह दुनिया रहने के योग्य नहीं है यद्यपि यहां वे सारी संभावनाएं हैं जो दुनिया को सुंदर, समृद्ध और स्नेहपूर्ण बना सकती हैं। इसी प्रसंग में महावीर अपरिग्रह की बात करते हैं, मर्यादित संचय की, अपार संचय की व्यर्थता बताते हुए क्योंकि वह दूसरों का हिस्सा ही होगा और उन्हें वंचित और विपन्न करेगा। यह समता-सिद्धांत का निषेध होगा और लालच, ईर्ष्या, टूटन, अविश्वास और छीना-झपटी की मनःस्थिति बनाएगा। वहीं अपरिग्रह का सिद्धांत सौम्य नागरिकों का ऐसा समाज और अर्थशास्त्र बना सकेगा जो मन-ही-मन जन्म लेती हिंसा, अधम प्रतिस्पर्धाओं और पाखंड से बचाएगा।

इन दिनों जो बात अक्सर चिंतित करती है, वह हिंसा का फैलाव है। कई तरह की और कई कारणों से फैलती हिंसा से होने वाले नुकसानों में से कुछ हमारी समझ में आते हैं, लेकिन कुछ इतने जटिल, इतने सूक्ष्म होते हैं कि वे हमारी समझ में तुरंत नहीं आते तब भी वे हम पर लगातार असर डालते हैं, एक किस्म का मनोवैज्ञानिक असर—भय। भय में जीना, अपने चारों तरफ भय की रचना देखना, भयभीत समाज में रहने का अभ्यास करना और हथियारों की मदद से अपने को ताकतवर, सुरक्षित अनुभव करना।

यह बात अजीब है और विचारणीय भी कि हथियारों से हम ताकत का अनुभव करें जब कि वह भय जैसी विनाशकारी बीमारी का प्रतीक है। किसी बंदूक वाले समाज बनने के बाद हमारी सुरक्षा की जरूरतों में सबसे पहली जरूरत क्या होगी? इस पर थोड़े दिनों बाद सार्वजनिक बहस करते मिलेंगे क्योंकि तब हमें यह अनुभव होने लगेगा कि बंदूकों से बंदूक वाले समाज में नहीं जिया जा सकेगा। एक बंदूक वाले समाज में हिंसा एक सामाजिक मूल्य की तरह विकसित होगी, उसके बीज हमारी 'चित्त की भूमि' में बोए हुए होंगे और बाहर समाज में हिंसा, घृणा, बाहुबल को प्रतिष्ठा मिलेगी, शस्त्रों के जंगल चारों तरफ जलते, धधकते नजर आएंगे।

पिछले दिनों हमने महावीर स्वामी के जन्मदिन पर विचार गोष्ठी की थी। इस में कुछ भी नया नहीं था। सालों-साल हम सभी पर्वों, उत्सवों, महापुरुषों के जन्म और मृत्यु प्रसंगों पर एक कर्मकांड को प्रिय और प्रसंगानुकूल बनाने वाली बातें कह कर पूरा करते हैं। कई बार एक अवसर पर कही गई बातों को नजरंदाज करते हुए दूसरे और तात्कालिक अवसर की बातों को अधिक प्रामाणिक बनाते हैं। यह अंतर्विरोध बार-बार प्रकट होता है तब भी मूल्यवान निष्कर्ष बच जाते हैं। जिनका अक्स समाज-रचना के बुनयादी उसूलों पर पड़ता नजर आता है। इसी दृष्टि से महावीर जयंती पर 'अहिंसा का अर्थशास्त्र' पर विमर्श का आयोजन किया था। आशा थी कि यह विमर्श हिंसा-अहिंसा की द्वंद्वात्मकता, औचित्य, तत्कालीन और दीर्घकालीन नतीजे, आपदकालीन हिंसा की अनिवार्यता, अर्थशास्त्र की प्रकृति और हिंसा की अनिवार्यता, हिंसक समाज में अर्थशास्त्र की अनिवार्यताएं, मध्यवर्गीय अर्थशास्त्र और हिंसा, समता का अर्थशास्त्र और अहिंसा आदि पर केंद्रित होगा, लेकिन वहां फिर अहिंसा पर अमूर्त और आध्यात्मिक बातचीत होकर रह गई।

क्या यह इसलिए हुआ कि चाहे हिंसा हमारे दिल में बसी हो, पर हमारे पास उसके पक्ष में ज्यादा बात करने की जगह नहीं है, उन हिंसा के सिद्धांतकारों के पास भी नहीं जो लक्ष्यों और साधनों की शुचिता पर ढीला-ढाला रवैया रखते हैं और अहिंसा को लाचारी का पर्याय मानते हैं? यह विचार करने की बात है कि क्रूरतम विश्व-विजेताओं ने अपनी वैयक्तिक नृशंसताओं के बारे में कुछ भी कहा या किया हो,

लेकिन एक नई सभ्यता या दुनिया बनाने के लिए हिंसा का समर्थन नहीं कर सके। हिंसा-रसिक भी यह नहीं भूलते कि उनके उत्पाद में कोई नैतिक या तत्त्वतः अपनी चमक नहीं है, इसलिए अपने पक्ष में वे पवित्रता, आदर्श, राष्ट्रप्रेम, अव्यवस्था के खिलाफ जिहाद, नस्लवाद और श्रेष्ठत्व के लिए नए वातावरण की आवश्यकता जैसे कई मनमोहक नारों का प्रचार करते हैं यद्यपि वे जानते हैं कि नैतिक रिक्तता के बीच ही बंदूकों की आवाज सबसे ज्यादा कामयाब होती है। विश्व युद्धों से लगाकर छोटी-बड़ी कौटुम्बिक कलह के पहले जिस उत्तेजना को काम में लाया जाता है वह एक प्रकार की नैतिक उत्तेजना ही होती है जिससे हिंसा की अराजकता और विनाश को सहने की मनोवैज्ञानिक ताकत हासिल होती है और पक्ष में जनमत बनता है।

हिंसा के पक्ष में मनुष्य की पाशविक वृत्ति है; अंदर से, अवचेतन की अंधेरी गुफा से अपने शिकार को ढूंढ़ता क्रुद्ध पशु। तब हिंसा से ही हिंसा का प्रतिकार संभव है। हिंसा का समर्थन करने वाले उसे 'दैविक शक्ति' का प्रतिरूप मानते हैं जो अधमताओं से और दुष्टों से सज्जनों की रक्षा करती है। इस तरह हिंसा दैवी-रूपों में प्रतिष्ठित होती है और समाज-रचना की सहयोगी शक्ति के रूप में पहचानी जाती है। बहुत पहले से ही देवी-देवता, पशु और नर-बलि से प्रसन्न होते हैं और मनचाही कामना पूरी करते हैं। यह हिंसा का दैवीकरण है। पुराने युद्धों में जैसे 'महाभारत' में शक्ति-प्रदर्शन, भूमि और स्त्रियां ही महाविनाश का कारण बनी हैं। स्त्रियों ने दुर्भाग्य और पुरुषों की भोगेच्छाओं का सबसे ज्यादा बोझ ढोया है। बाद के विश्वयुद्ध बाजार बढ़ाने के और उपनिवेश-विस्तार के लिए लड़े गए हैं और उन्हें 'राष्ट्र-प्रेम और आत्म-अभ्युदय' की खूबसूरत टोपियां पहनाई गई हैं। जब-जब युद्ध और हिंसा के लिए कोई खूबसूरत विशेषण नहीं मिलता उसे 'धर्म-युद्ध' और पश्चिमी-दुनिया में 'होली वार' 'सेक्रेड वार' और अब 'आईडियोलोजिकल वार' भी कहा जाता है। अब पैसे वाले और भूमिपति निजी सेनाएं बनाते हैं और दलितों, भूमिहीनों का संहार करते हैं जो अपना हक मांगने के लिए खड़े होते हैं। इस तरह हिंसा का सिद्धांत शक्ति के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ गया है।

लेकिन फिलहाल, हम महावीर स्वामी की तरफ लौटें जो हिंसा से बनाई हुई व्यवस्था पर सवाल उठाते हैं। महावीर का सबसे महत्त्वपूर्ण सपना समता के आधार पर दुनिया की रचना करना था। देखने की बात यह है कि यह कोई परम वैराग्य की अवधारणा नहीं है। सचाई तो यह है कि जो कोई दुनिया को फिर से बनाना चाहता है, वह रहने की इच्छा से किसी न किसी तरह बंधा रहता है। उसे लगता है यह दुनिया रहने के योग्य नहीं है यद्यपि यहां वे सारी संभावनाएं हैं जो दुनिया को सुंदर, समृद्ध और स्नेहपूर्ण बना सकती हैं। इसी प्रसंग में महावीर अपरिग्रह की बात करते हैं, मर्यादित संचय की, अपार संचय की व्यर्थता बताते हुए क्योंकि वह दूसरों का हिस्सा ही होगा और उन्हें वंचित और विपन्न करेगा। यह समता-सिद्धांत का निषेध होगा और लालच, ईर्ष्या, टूटन, अविश्वास और छीना-झपटी की मनःस्थिति बनाएगा। वहीं अपरिग्रह का सिद्धांत सौम्य नागरिकों का ऐसा समाज और अर्थशास्त्र बना सकेगा जो मन-ही-मन जन्म लेती हिंसा, अधम प्रतिस्पर्धाओं और पाखंड से बचाएगा।

किसी भी समाज के लिए यह समझना आवश्यक है कि विवेक के रास्ते कौन से हैं? अर्थशास्त्र का विवेक क्या है, उसका शक्ति केंद्र कहां है? उत्पादन और उपभोग का रिश्ता क्या है? ध्यान से देखें तो यह तथ्य समझने में ज्यादा समय नहीं लगेगा कि अर्थशास्त्र का विवेक वंचित मनुष्य के हित में निहित है; उसका शक्ति केंद्र मनुष्य में ही है, मनुष्य ही है।

आज हुआ यह है कि अर्थशास्त्र का विवेक उलट दिया गया है। अर्थ की सत्ता केंद्र में आ गई है और मनुष्य नैपथ्य में चला गया है। पैसे की अकूत शक्ति ने मनुष्य का आत्म-बल छीन लिया है। एक ऐसा समाज नजर आने लगा है जहां पैसा और उससे खरीदी गई वस्तुएं 'शक्ति' हो गई हैं। मनुष्य निस्तेज हो गया है। अर्थशास्त्र के इर्द-गिर्द या दूर-दूर तक उसका कोई वजूद, उसका हस्तक्षेप नजर नहीं आता। टोफलर ने अपनी एक पुस्तक का नाम 'पावर शिफ्ट' दिया है। शक्ति कहां से कहां सरक कर आ गई है—यह इस पुस्तक की केंद्रीय चिंता है। उनका निष्कर्ष है कि वह शक्ति-केंद्र पहले जहां कहीं रहा हो अब सरक कर पैरों में आ गया है—मनी इज पावर (पैसा शक्ति है)। जब कि वास्तविकता यह है कि दुनिया के सारे सवाल (परिग्रह-अपरिग्रह, हिंसा-अहिंसा, नैतिकता-अनैतिकता, ज्ञान-विज्ञान, कला-संस्कृति के) मनुष्य के हैं। ये सब उस सजगता के सवाल हैं जो मनुष्य के अभ्युदय और गिरावट के मानदंड तय करती है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि परिग्रह भय की सब से जटिल, समझ में न आने वाली, भ्रमित करती हुई मनोग्रंथि है, वह एक प्रकार का उत्पीड़न-सुख है। हमारे समय की सहस्रों साड़ियां और गाउन, अत्यंत मूल्यवान और किस्म-किस्म की चप्पलों और जूतियों का संग्रह करने वाली स्त्रियों की मनोग्रंथियों का अध्ययन अभी बाकी है,

लेकिन वे उस बीमार मानसिकता और समाज की जानकारी अवश्य देती हैं, जो किसी अज्ञात भय से वस्तुओं का संग्रह करती हैं और उन्हें पाकर, उन पर कब्जा कर के आत्म-विश्वास और बेहिसाब ताकत का अनुभव करती हैं। लेकिन भविष्य में यह दो-चार स्त्रियों की मनोग्रंथि ही नहीं, दुनिया की अधिकांश आबादी के प्रबल मनोरोग में बदल जाने वाली है। यह अपने को सबसे अलग, सबसे विशिष्ट, सबके जैसी नहीं बल्कि अद्वितीय दिखाने की जिद है। अब प्रायः यह मुहावरा काम में आता है 'सबके जैसा नहीं' यानी सबसे अलग, असमान, मनमौजी, आत्म-केंद्रित और किसी की न सुनने वाले हम सामान्य-जनों जैसे नहीं हैं। परिग्रह का वास्तविक रूप दंभ ही है जो बार-बार अद्वितीय होने के लालच को प्रकट करता है।

समतावादी और हिंसा-मुक्त समाज के लिए जैन सिद्धों और साधुओं ने सत्य को अनेक दृष्टियों से उलट-पलट कर देखने का आग्रह किया है। धर्म-दृष्टियों के साथ जो कलह, कष्ट और हिंसा जुड़ी है उसका मुख्य कारण दूसरों के अनुभवों की अवमानना है। यह जो मेरा अनुभव है, यह जो मेरी दृष्टि है, मेरा धर्म और मेरा ईश्वर है, सृष्टि रचना के संबंध में मेरी आस्थाएं हैं वही सबसे श्रेष्ठ हैं, अनित्य और अटल हैं। यह एक प्रकार की तुलना है, धर्म सिद्धांतों की कम, दूसरे धर्मों को मानने वालों से ज्यादा। यह श्रेष्ठता का भाव असहनीय कट्टरता पैदा करता है और अपने इतिहास, अपनी परंपरा, अपने धर्म के अंतर्विरोधों और असमानताओं को नहीं देखता। श्रेष्ठता के सारे दावे, वे चाहे धर्म के संबंध में हों या कुल, गोत्र के संबंध में, चाहे रंग, नस्ल, लिंग, भाषा, देश, बाजार, तकनीक या चीजों के बारे में हों, धीरे-धीरे 'व्यापार का अध्यात्म' हो जाते हैं जो मनोवैज्ञानिक असंतुलन पैदा करते हैं और मनुष्यों की बराबरी के दावों को खारिज करते हुए छोटी-बड़ी कोटियां या जातियां निर्धारित करते हैं। इसलिए जैन संतों का आग्रह है कि हम 'अनेकांतवादी' दृष्टि विकसित करें क्योंकि इस तरह हम अपने विचारों के कैदखाने से बाहर निकल सकते हैं और जीवन-सत्यों को ज्यादा खुली रोशनी में देखने का अभ्यास कर सकते हैं।

यह सबसे अधिक चिंता की बात है कि बराबरी का समाज बनाने में विश्वधर्मों की भूमिका संदेहास्पद रही है यद्यपि वे समतावादी समाज-निर्माण के प्रबल दावेदार हैं। धर्म के साथ सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि वे एक सीमा को तोड़ते हुए दूसरी सीमाओं को स्थापित करते हैं अंत में वे अमूर्तन के और वर्चस्वशाली शक्ति-समूहों की तरफ होते हैं। वे अपनी लोक-कल्याणकारी और श्रेष्ठत्व की भूमिका का एक भी दावा नहीं छोड़ते तो भी इन धर्मानुयायियों का आचरण अनुदार और दूसरे धर्म-संप्रदायों के प्रति असहिष्णु और द्वेषपूर्ण होता है।

गौरतलब है कि दुनियाभर के धर्म-संप्रदायों की ऊपरी विनयशीलता और सद्भावनापूर्ण अद्वैतवादी भाव बार-बार संघर्ष, हिंसा, उत्पीड़न, लज्जाजनक कुकृत्यों में बदले हैं।

समतावादी समाज के लिए महावीर स्वामी का सबसे महत्त्वपूर्ण अवदान अहिंसा का प्रतिपादन है। वे अहिंसा की सामाजिक ताकत को जानते हैं, इसीलिए अहिंसा के सगुण और निर्गुण रूपों को जीवन-शैलियों में रूपायित होने देते हैं। वे अहिंसा को विचारों का आधार बनाना चाहते हैं जो लंबे अभ्यास से मिलता है। हो सकता है हमारी पूरी जिंदगी की तपस्या अहिंसा का मर्म समझने में विफल हो जाए, लेकिन उनका विश्वास है कि जब भी सफलता मिलेगी तब उसके कारण अभ्यास और अनुशासन होंगे। अहिंसा और सद्गुणों के बीज हमारी चेतना में अंतर्निहित हों, लेकिन वे अभ्यास और स्वभाव के परिवर्तन से ही सामाजिक मूल्यों में बदलते हैं, इसलिए महावीर स्वामी हिंसा की प्रतिरोधी शक्तियां विकसित करने के लिए अपने अनुयायियों को वैयक्तिक और सामाजिक स्तर पर अनेक कठिन नियमों के बीच से गुजरने देते हैं जो कि तब भी वे लोक-सान्निध्य, लोक-संवाद से विमुख नहीं होते।

यह ध्यान देने की बात है कि अहिंसकों का समाज कायरों का नहीं, तेजस्वियों का, अग्निधर्मा लोगों का है, अल्पसंख्यकों का, जैसे दुनिया के प्रतिबद्ध और आदर्शोन्मुखी समाज होते हैं। अहिंसकों का समाज मनुष्य की शीलवान प्रकृति पर विश्वास करता है। करुणा और दूसरे सारे सद्गुणों के बीज मनुष्य के संस्कारों में हैं, इसलिए शील और मैत्री का वातावरण ही बनाना है। अहिंसा पर आधारित समाज रचना का काम व्यक्ति से शुरू होता है, सद्गुणों में अडिग आस्था और अपने स्वभाव को कल्मषरहित बनाने के संकल्प से। समाज के विभिन्न समूहों की परिस्थितियों और शील आदि गुणों को ग्रहण करने की पात्रता तथा उन्हें सामाजिक मूल्यों में बदलने की कठिन प्रक्रिया पर विश्लेषकों का जब कभी ध्यान जाता है तब अहिंसा की कई सीमाएं नजर आने लगती हैं। तब भी यह भूलना अनुचित है कि हमारी असावधानी से हिंसा और बंदूकों या कि शस्त्रागारों का पाशविक उन्माद मनुष्यों के विवेक को व्यापक प्रतिहिंसा में

बदल सकता है और तब सामाजिक संगठनों की तथा लोक-विमर्श की शक्तियां कमजोर पड़ती जाती हैं।

इसी प्रसंग में यह देखना चाहिए कि महावीर स्वामी केवल शस्त्र की हिंसा के विरुद्ध ही नहीं, विचार के बुनियादी ढांचे को भी हिंसा और कुविचारों से अलग करते हैं। यहीं वे अपनी पूर्व परंपरा से टकराते हैं, वर्ण-व्यवस्था और वैदिक कर्मकांड से, जो कई मनोवैज्ञानिक कुंठाओं को पैदा करती रही हैं और उन विचारों को वैधता देती हैं जो अहिंसा का या कि समता के पक्ष का गंभीरता से समर्थन नहीं करतीं। समता के लिए आदर-भाव के कारण महावीर लोक-भाषाओं के पक्ष समर्थक हैं। आज भी जैन मुनि स्थानीय बोलियों में 'बखान' करतें हैं और सिनेमा के गीतों की लोकप्रिय धुनों पर कविता-भजन बनाते हैं, गाते हैं। इस तरह सामान्य-जन से उनका संपर्क-संवाद चलता है।

बुद्ध भी इसी अभिजन-परंपरा के विरोध में अपना संघर्ष शुरू रखते हैं। वे करुणा के सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं और मनुष्य को दुखमुक्त करने का अभियान चलाते हैं। बुद्ध की करुणा और दुखमुक्त होने का उपक्रम सबके लिए है। वहां भी वर्ण-व्यवस्था का विधान अमान्य है। बुद्ध की करुणा का सिद्धांत क्या है? वह दरअसल मनुष्य के अंदर जलती ईर्ष्या, वर्चस्व, श्रेष्ठता, भय, निराशा, पराजय, अकेलेपन की आग को देखना, उसके कारणों को जानना और मन को आवेगरहित कर अशुभ विचारों का प्रतिकार करना है।

लेकिन इस समय जहां हम आ गए हैं और उसके जो भी कारण हों, हमें यह विश्वास हो गया है कि अहिंसा, करुणा, अनेकांतवाद, अपरिग्रह आदि पर चलने और उनके संबंध में चिंता करने के दिन चले गए हैं। वे दिन भी चले गए हैं जिनकी रोशनी में चलने का आग्रह गांधी करते रहे हैं; ऐसी रोशनी जो सबके मन में बसी है और सबके व्यवहार और आचरण को निखारती है। अब हम समझने लगे हैं कि दुनिया बाहर ही बाहर है, अंदर कुछ नहीं है। अंदर कुछ हो तो भी उसे मूर्छित और सोए रहने देना चाहिए।

सब जानते हैं कि अंदर की दुनिया विचारों या कि भावों की कितनी प्रबल और आकांक्षातुर है। यह हमारी अंदरूनी दुनिया की ताकत ही है कि हम हिंसा को दुनिया बनाने के सर्वोत्तम साधन के रूप में अस्वीकार कर देते हैं। हमारे पास दुनिया बनाने के लिए बहुत विश्वसनीय और सुतर्क संगत प्रतिमान न भी हों तब भी एक किस्म का विवेक है जो चुनता है और छोड़ता है, अतियों से बचता है। बुद्ध ने जिसे मध्य-मार्ग कहा है; न अतिशय उपभोग का और न चरम वैराग्य का।

21 वीं सदी की दुनिया निस्संदेह बुद्ध और महावीर के समय से भिन्न है। वह कई प्रकार से बदल गई है और मानवीय संबंधों में जबरदस्त उलट-फेर हुए हैं और इसी क्रम में राज्य-सत्ताओं का रूप और नागरिकों के साथ उसके व्यवहार और आचरण में अनपेक्षित तब्दीलियां हुई हैं। राज्य सत्ताओं के पास शक्ति केंद्रित हो गई है और नागरिकों का अभ्युदय, जीवन, सुरक्षा, शिक्षा, स्वास्थ्य, व्यापार व उत्पादन के साधन राज करने वालों और ओहदेदारों की मुट्ठी में हैं।

प्रभुसत्ताओं की आपसी टकराहट और अपने-अपने राष्ट्र-राज्यों से नागरिक-स्वाधीनता और समता का हक हासिल करने का संघर्ष अहिंसा-हिंसा के सवाल को फिर से जरूरी बनाता है। सवाल यह है कि नव उपनिवेशवाद की लालची और शोषण करने वाली अर्थव्यवस्था को निष्प्रभ करने वाले प्रतिरक्षात्मक उपाय कौन-से हैं? यदि वे केवल प्रतिद्वंद्वात्मक और प्रतिस्पर्धात्मक हैं तो हिंसा या सशस्त्र क्रांति का विकल्प क्या है? क्या अदृश्य रूप की नव औपनिवेशिक व्यवस्था में गैर-बराबरी का संघर्ष हिंसा और हथियारों के बिना मुमकिन है? दूसरी विचारणीय बात अपने देश की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व्यवस्था के साथ मानव-अधिकार और नागरिक स्वाधीनता से संबंधित है। कोई भी समाज उत्पीड़न और शोषण के मुद्दों पर अपनी नाराजी जाहिर करने के लिए सरकार के साथ कैसा सलूक करे जब कि एक पक्ष के पास हथियार, पैसे तथा प्रचार की ताकत और सुविधाएं हों और दूसरा पक्ष निहत्था और असहाय हो। तब नागरिकों को हिंसा या अहिंसा में से तत्काल और दीर्घकाल के लिए किसे चुनना चाहिए। गांधी जी ने सिविल नाफरमानी सत्याग्रह, अहिंसा का रास्ता चुना था। क्या यह चुनाव हिंसा और हथियार से बेहतर था? क्या विदेशी और देशी शासकों और हुक्मरानों के दमन और अन्याय के खिलाफ संघर्ष करते हुए हमारा नजरिया बदला हुआ होना चाहिए? देशी हुक्मरानों के भ्रष्टाचार, सार्वजनिक लापरवाहियां, व्यक्तिगत विलासिता, जमीन-जायदाद और अवैध धन संचय को संसद की बहस या न्यायपालिकाओं के लिए ही छोड़ देना चाहिए? क्या विभाजित, पुराने, आत्मालोचन के अभ्यास और परंपरा से वंचित किंतु बदलते हुए और समता की आकांक्षा से उद्वेलित समाज में बदलाव की प्रक्रिया का लोकतंत्रात्मक और धीरज दिलाने वाला रूप थका देने वाला नहीं होता और हिंसा की तरफ नहीं ले जाता?

पिछली शताब्दी लोकतंत्रवादियों और अहिंसा के आधार पर समाजरचना करने वालों के लिए ज्यादा आशाप्रद नहीं रही है। दुनियाभर में मनोवैज्ञानिक अवसाद और बराबरी के सपनों के ध्वस्त होने का क्लेश फैला रहा है। इसलिए सारे आदर्श और सिद्धांत चालाक लोगों का कोई जाल या पाखंड लगने लगा है। असंख्य स्त्री-पुरुषों के मन में सुंदर और दुखरहित जीवन की उम्मीद खत्म हो जाने से हिंसा के लिए सैद्धांतिक जमीन तैयार होती नजर आ रही है।

हमारे समय के हिंसा-अहिंसा, नैतिकता-अनैतिकता और दूसरे सवाल महावीर और बुद्ध के समय में इतने जटिल न रहे हों जैसे वे आज हो गए हैं क्योंकि अब वे कई दबावों और संशयों के बीच में हैं और उनके उत्तर महाशक्तियों की पंचायत में तय होते हैं। तब भी बुद्ध और महावीर के बाद अहिंसा पर सबसे सार्थक विमर्श करने वालों में गांधी हैं जो सभ्यता के 'पश्चिमी-मॉडल' के सबसे दृष्टिवान समीक्षक हैं। 'पश्चिमी-मॉडल' को गांधी 'भोगवादी और पाशविक' मानते हैं। यूरोपीय शासन व्यवस्था को उन्होंने 'अधार्मिक, अधम और आसुरी' कहा है। अंग्रेजी शासन के विरुद्ध संघर्ष करते गांधी ने अहिंसा की अद्‌भुत शक्ति को रेखांकित किया। उनका मानना है कि 'अहिंसा तो निर्विकार होने में है और कर्तव्य के संकल्पपूर्वक पालन में है जिसके लिए मरना आना चाहिए और कोई व्यक्ति अहिंसा पालन करना न सीख सके तो कायरतापूर्वक पीठ दिखाकर भागने की अपेक्षा उसे आतताई को मारने में संकोच नहीं करना चाहिए।' (सनातन धर्म और महात्मा गांधी : पुषराज, पृष्ठ 250)

यह महत्त्वपूर्ण है कि अहिंसा-हिंसा की बहस किसी समय विशेष की नहीं है, यह विचारों को खोलने और सौम्य जीवन बनाने की सबसे जरूरी और सार्वकालिक बहस है। हमारी जिंदगी की गुणवत्ता बढ़ी है या घटी है इस तथ्य को परखने के प्रतिमान क्या हैं? वास्तविक प्रतिमान तो अहिंसा-हिंसा का व्यवहार ही है; विचारों के बीच असहनशीलता की संहारक अग्नि जैसे-जैसे फैलती है समाज वैसे-वैसे सिमटता जाता है और जिंदगी की रोशनी बुझ जाती है। किसी भी समय या समाज या कि राज्य-व्यवस्था में नागरिक-जन अपनी जिंदगी और वैचारिक-स्वाधीनता के लिए रिवाल्वर रखने या चलाने का अधिकार मांगें या कि बड़े समुदाय छोटे समुदायों को निर्वंश कर देने का संकल्प करें, स्त्रियों के साथ अमानवीय व्यवहार की दुर्घटनाएं असंख्य हो जाएं, समता और सामाजिक न्याय का दिखावा और छल-ही-छल नजर आने लगे; अनुभव होने लगे कि सभ्य जीवन के लिए कोई जगह बच नहीं गई है तब सवाल महावीर, बुद्ध और गांधी या कि विश्वभर के विचारवान नागरिकों के अवदान को बचाने का नहीं रह जाता बल्कि उस सत्त्व को बचाने का रह जाता है जो सामाजिक श्रेष्ठत्व की बुनियाद है।

इसलिए समता, हिंसा-अहिंसा, लोकतंत्र, स्वाधीनता, सामाजिक न्याय और समाज-रचना के बुनियादी अधिकारों के मुद्दे बुद्ध, महावीर और गांधी से आगे उस तकनीकी समाज के भी होंगे जो समता की सदी से कतराने के प्रयत्न में हैं। तकनीक बहुत कुछ आश्चर्यों की दुनिया बना देने वाली है; एक फेक्ट्री मनुष्यों से रहित, अर्थ-व्यवहार कंप्यूटर से चलने वाला, परखनली का बच्चा, मूल्य-निरपेक्ष स्मृति, इतिहास-विरत मनुष्य समुदाय, बंदूकों के जरिए बात करने वाले सांसद, विधायक। तब वर्तमान की समृद्धि और विज्ञापनों का तत्काल ही बचेगा। यह ऊल-जलूल सपना नहीं है। इसका निहितार्थ यह है कि हम इस समय आगे आने वाली दुनिया के बारे में न सोचें क्योंकि विचार, सिद्धांत या मूल्यों का अंत हो गया है या होने वाला है? इसका यह अर्थ है कि हम उन लोगों को मजबूत हो जाने दें जो दुनिया के बाजार, विचार, मुद्रा, तकनीक, वस्तुएं, जीवन-प्रवाह अपने कब्जे में रखना चाहते हैं?

ऐसे समय में अहिंसा का पक्ष लेना, अहिंसा के बारे में सोचना और कई प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच भी अहिंसा को कायरता और दब्बूपन का प्रतीक न होने देना बराबरी का समर्थन करना है क्योंकि हिंसा के वर्चस्व का प्रचार वे ही कर रहे हैं जिनके पास पूंजी है जिसका वे बंटवारा नहीं चाहते।

यह सोचना भयावह होगा कि हिंसा-अहिंसा के सवाल फिलहाल ठंडे तहखाने में रखे जा सकते हैं, क्योंकि हिंसा की उन्मादकारी और 'इररेशनल' शक्ति के सामने चुपचाप बैठे हुए लोग उत्पीड़कों की ज्यादा मदद करते हैं। हिंसा के विस्तार और उन सारी पाशविक ताकतों के बारे में, जो हिंसा का कारण होते हुए भी नजर नहीं आतीं, आज और अभी सोचना और दबाव के लिए जनमत बनाना आवश्यक है, क्योंकि अब लोगों का यह विश्वास प्रबल होता जाता है कि हिंसा के परिणाम तुरंत नजर आते हैं और यह कि हिंसा ही शक्ति-प्रदर्शन का सबसे रोमांचकारी 'थ्रिल पूर्ण' रास्ता है।

दुनिया और जिंदगी को उर्वरा, सार्थक और समतावादी बनाने के लिए हमें 'लक्ष्य और साधनों' के विमर्श पर हमेशा चौकन्नी दृष्टि रखने की आवश्यकता अनुभव करनी चाहिए विशेषतया अपने देश में जहां बुद्धि को निर्मल रखने की परंपरा हो। गौरतलब है कि हिंसा का चक्र प्रायः प्रतिक्रांतिकारियों और यथास्थितिवादियों के पक्ष में ही गया है। ❖

जैन आगमों में गणित

❑ डॉ. अनुपम जैन ❑

जैन धर्म की दोनों परंपराओं में गणित को अतिविशिष्ट स्थान दिया गया है। दिगंबर परंपरा में जहां करणानुयोग, द्रव्यानुयोग के ग्रंथ गणितज्ञों के लिए रुचिकर हैं, वहीं श्वेतांबर परंपरा के विभाजन के अंतर्गत गणितानुयोग तथा चरण-करणानुयोग के अंतर्गत करणानुयोग के ग्रंथ उपयोगी हैं।

'बहुरि जे जीव संस्कृतादिक के ज्ञान सहित हैं किंतु गणिताम्नायादिक के ज्ञान के अभाव ते मूल ग्रंथ या संस्कृत टीका विषै प्रवेश न करहुं तिन भव्य जीवन काजे इन ग्रंथन की रचना करी है।'[1]

पं. टोडरमलजी का यह कथन इस बात की पुष्टि करता है कि गणित एवं गणितीय प्रक्रियाओं को सम्यक् रूप से समझे बिना मूल ग्रंथों एवं आगमों की विषयवस्तु को ठीक प्रकार से नहीं जाना जा सकता। जैन शास्त्रों में जिन बहत्तर कलाओं का उल्लेख मिलता है उनमें सर्वप्रथम स्थान लेख का एवं दूसरा गणित का है तथापि आगमों में प्रायः इन कलाओं को 'लेहाइयाओ गणियप्पहाणाओ' अर्थात् लेखादिक, किंतु गणितप्रधान कहा गया है।[2] मात्र इतना ही नहीं, संपूर्ण जैन वाङ्मय के विषयानुसार विभाजन के क्रम में उसे 4 अनुयोगों में निम्न प्रकार विभाजित किया जाता है।

दिगंबर परंपरा के अनुसार [3]

1. प्रथमानुयोग—तीर्थंकरों एवं अन्य महापुरुषों के जीवन चरित्र, पूर्वभवों का विवरण एवं कथा साहित्य। 2. करणानुयोग—लोक का स्वरूप, आकार-प्रकार, कर्म सिद्धांत एवं गणित विषयक साहित्य। 3. चरणानुयोग—मुनियों एवं श्रावकों की चर्या तथा आचार अन्य साहित्य। 4. द्रव्यानुयोग—आत्मा एवं परमात्मा विषयक दार्शनिक साहित्य, न्याय एवं अध्यात्म ग्रंथ।

श्वेतांबर परंपरा के अनुसार [4]

1. धर्मकथानुयोग—इसमें तीर्थंकरों का जीवन, पूर्वभव एवं धार्मिक कथाओं से संबद्ध साहित्य। 2. चरण-करणानुयोग—आचार एवं गणित विषयक साहित्य। 3. गणितानुयोग—खगोल विषयक साहित्य। 4. द्रव्यानुयोग—न्याय, कर्म एवं दर्शन संबंधी साहित्य।

उक्त विभाजन से स्पष्ट है कि जैन धर्म की दोनों परंपराओं में गणित को अतिविशिष्ट स्थान दिया गया है। दिगंबर परंपरा में जहां करणानुयोग, द्रव्यानुयोग के ग्रंथ गणितज्ञों के लिए रुचिकर हैं, वहीं श्वेतांबर परंपरा के विभाजन के अंतर्गत गणितानुयोग तथा चरण-करणानुयोग के अंतर्गत करणानुयोग के ग्रंथ उपयोगी हैं। मुनिश्री कन्हैयालालजी 'कमल' ने अनुयोगद्वार संकलन कर गणितज्ञों के लिए काम बहुत आसान कर दिया है। मूलतः गणितज्ञ जैनाचार्य श्रीधर (799) एवं महावीर (850) ने भी गणित की आवश्यकता एवं उपादेयता पर खुलकर लिखा है। महावीर के अनुसार तो चराचर जगत में जो कुछ भी है वह गणित के बिना नहीं है।[5]

गणित इतिहास के अध्ययन पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट है कि 18वीं शताब्दी के अंत में गणित इतिहास का लेखन प्रारंभ हो गया था, किंतु जैनधर्म-ग्रंथों में निहित गणितीय ज्ञान की ओर किसी गणितज्ञ का ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ। प्रसिद्ध जैनाचार्य श्रीधर (750 ई. लगभग) द्वारा प्रणीत 'त्रिशंतिका[6] (पाटीगणितसार अथवा गणितसार)' का प्रकाशन सुधाकर द्विवेदी द्वारा 1899 में अवश्य किया गया था, किंतु उस समय इसको अजैन कृति के रूप में प्रकाशित किया गया था। 20वीं सदी के प्रारंभ में Madras Oriental Manuscript Library से संबद्ध 'एम. रंगाचार्य' को इस भंडार से प्राप्त आचार्य महावीर द्वारा रचित गणितीय पांडुलिपि 'गणितसार संग्रह' की प्राप्ति से भारतीय गणित का एक स्वर्णिम पृष्ठ अनावृत हुआ। विश्व समुदाय को इस महत्त्वपूर्ण जैन गणितीय कृति की जानकारी सर्वप्रथम 1908 में David Eugen Smith के Bibleotheca Mathematica में प्रकाशित आलेख[7] के माध्यम से हुई तथा 1912 में मद्रास सरकार द्वारा 'गणितसार संग्रह' के 'एम. रंगाचार्य' द्वारा किए

गए अंग्रेजी अनुवाद का प्रस्तावना सहित प्रकाशन किया गया। वस्तुतः इस कृति के प्रकाशन के साथ ही विश्व समुदाय का ध्यान भारतीय गणित की उस परंपरा की ओर आकृष्ट हुआ, जिसे संप्रति 'जैन गणित' या Jaina School of Mathematics की संज्ञा दी जाती है और इस प्रकार विश्व क्षितिज पर 'जैन गणित' की पुनर्स्थापना हुई।

जैन गणित की जड़ें बहुत गहरी हैं। पौराणिक आख्यानों के अनुसार भगवान ऋषभदेव ने अपनी पुत्रियों ब्राह्मी एवं सुंदरी को क्रमशः लिपि एवं अंक विद्या की शिक्षा दी। सुंदरी को दिया गया ज्ञान अंक लिपि 1, 2, 3... ही थी। द्वादशांग जिनवाणी के विवेचनों से भी स्पष्ट है कि 11 अंगों तथा 12वें दृष्टिवाद अंग के 'परिकर्म' एवं 'पूर्व' शीर्षक भेदों में विपुल गणितीय ज्ञान निहित था। इस संदर्भ में 'गणितसार संग्रह' का अध्याय प्रथम, शत्रुंज्जय काव्य, आचार्य जिनसेनकृत 'आदिपुराण' और आचार्य पुष्पदंत कृत अपभ्रंश भाषा का महापुराण द्रष्टव्य है।[8]

चतुर्थ अंग भगवती सूत्र के अनुसार संख्यान या अंकों के विज्ञान का ज्ञान जैन साधुओं की एक प्राथमिक आवश्यकता थी।[9]

जैन आगमों में गणित से संबद्ध विषयवस्तु के बारे में महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालने वाली एक गाथा हमें अंग साहित्य के अंतर्गत उसके अंग स्थानांगसूत्र (ठाणं) के 10वें अध्याय में प्राप्त (गाथा 747) होती है। गाथा निम्न प्रकार है—

दस विधे संखाणे पण्णत्ते तं जहा!
परिकम्मं ववहारो रज्जु रासी कलासवन्ने (कलासबण्णे) य।
जावंतावति वग्गो धनो ततह वग्ग वग्गो विकप्पो त।।[10]

इस गाथा में संख्यान (गणित) के 10 प्रकारों की चर्चा है। स्थानांग सूत्र के व्याख्याकार अभयदेव सूरि ने सर्वप्रथम इसकी व्याख्या प्रस्तुत की थी। तदुपरांत बी.बी. दत्त, एच.आर.कापड़िया, मुकुटबिहारीलाल अग्रवाल, बी.एल. उपाध्याय, एल.सी.जैन आदि विद्वानों ने अपनी-अपनी दृष्टियों से इनकी व्याख्याएं प्रस्तुत कीं जिनका विस्तृत विवेचन मैंने अपने 'जैन आगमों में निहित अध्ययन के विषय'[11] शीर्षक आलेख में किया है। हम यहां अभयदेव सूरि, बी.बी. दत्त एवं आधुनिक मत को सारणीबद्ध कर रहे हैं—

क्र.	शब्द	अभयदेव सूरि का मत	बी.बी.दत्त का मत	आधुनिक मत
1.	परिकम्मं	संकलन आदि	अंकगणित के परिकर्म (8)	अंकगणित के आठ मूलभूत परिकर्म
2.	ववहारो	श्रेणी व्यवहार या पाटीगणित	अंकगणित के व्यवहार	पाटीगणित के व्यवहार
3.	रज्जु	समतल ज्यामिति	रेखागणित	लोकोत्तर गणित (लोकोत्तर प्रमाण)
4.	रासी	अन्नों की ढेरी	राशियों का आयतन आदि निकालना	समुच्चय सिद्धांत
5.	कलासवन्ने	भिन्न	भिन्न	भिन्न
6.	जावत्-तावत्	प्राकृतिक संख्याओं का गुणन या संकलन	सरल समीकरण	सरल समीकरण
7.	वग्गो	वर्ग	वर्ग समीकरण	वर्ग समीकरण
8.	घणो	घन	घन समीकरण	घन समीकरण
9.	वग्ग-वग्गो	चतुर्थ घात	चतुर्थ घात समीकरण	उच्च घात समीकरण
10.	वि कप्पो	क्रकचिका व्यवहार	विकल्प गणित	विकल्प एवं भंग (क्रमचय, संचय)

उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट है कि जैन आगमों में निहित गणितीय विषयों की सूची अत्यंत व्यापक है और उसमें गणित का बहुत बड़ा क्षेत्र समाहित है। अभयदेव सूरिजी की व्याख्या में कुछ त्रुटि रह गई थी जिसे प्रो. दत्त ने काफी हद तक दूर किया, किंतु उनके सम्मुख सीमित मात्रा में मात्र कुछ आगम ही उपलब्ध होने के कारण उनकी दृष्टि रज्जु एवं रासी शब्द के मूल तक नहीं पहुंच सकी जिसे एल.सी. जैन ने सक्षमतापूर्वक पकड़ा है। जैन आगमों एवं परवर्ती टीका साहित्य के एक बड़े भाग के न देखने के कारण ही 1929 में प्रकाशित अपने आलेख 'On the Jaina School of Mathematics' में दत्त ने लिखा कि—

It should be noted that the necessity of Jaina priests to learn Mathematics arises by way of finding the proper time and place for the religious ceremonies.[12]

जबकि वास्तविकता यह है कि कर्म प्रकृतियों के आस्रव, बंध, संवर एवं निर्जरा को सम्यक् रूप से समझने, अध्यात्म के गूढ़ विषयों के स्पष्टीकरण, लोक के स्वरूप,

उसके आकार-प्रकार, विभिन्न प्रकार की जीव राशियों की गणना, उनमें परस्पर संबंध आदि को स्पष्ट करने के लिए गणित को एक साधन के रूप में प्रयोग में लाया गया है। यह सत्य है कि दीक्षा, पंच कल्याणक प्रतिष्ठा आदि अनेक धार्मिक अनुष्ठानों की पूर्ति हेतु शुभ मुहूर्त का चयन किया जाता है, एतदर्थ गणित ज्योतिष का ज्ञान आवश्यक है किंतु यह केवल एक पक्ष है। दार्शनिक विषयों की व्याख्या में समाहित गणितीय ज्ञान विशेषतः कर्म सिद्धांत का गणित अधिक परिष्कृत एवं उपयोगी है। वस्तुतः जैन आगमों में निहित गणितीय सामग्री को स्थूल रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

1. लौकिक गणित, 2. लोकोत्तर गणित

लौकिक गणित के अंतर्गत स्थानमान पद्धति, अंकों के प्रकार, अंकों के लेखन, विभिन्न प्रकार की मापन पद्धतियां, शून्य एवं अंकों पर विभिन्न प्रकार के परिकर्म, यथा संकलन, व्यवकलन, गुणन, भाग, वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल, पाटीगणित के विभिन्न व्यवहार, यथा श्रेणी व्यवहार, मिश्रक व्यवहार, ब्याज आदि के सूत्र, छाया व्यवहार, घात व्यवहार, क्रकचिका व्यवहार, मिश्रक व्यवहार, भिन्नों पर परिकर्म, ज्यामिति एवं ठोस ज्यामिति से संबद्ध गणित, विभिन्न प्रकार की आकृतियों के क्षेत्रफल, पृष्ठ आदि ज्ञात करना, बीजगणित के अंतर्गत सरल, वर्ग, घन एवं उच्चघातीय समीकरणों का सृजन एवं उनका हल, क्रमचय संचय, घातांकों के सिद्धांत, लघुगुणकीय सिद्धांत आदि से संबद्ध गणित आता है और एतद् विषयक सामग्री जैन साहित्य में विपुल परिमाण में अत्यंत मौलिक रूप में उपलब्ध है।

लोकोत्तर गणित के अंतर्गत राशि (समुच्चय) सिद्धांत, एकैकी संगति (One-One Corespondence) अनंत विषयक गणित, कर्म एवं निकाय सिद्धांत विषयक गणित आता है। इस पक्ष पर अभी कम काम हुआ है किंतु इस वर्ग की सामग्री अधिक सामयिक एवं गौरवपूर्ण है।

20वीं सदी के अंत तक निरंतर अप्रकाशित जैन साहित्य प्रकाश में आ रहा है और उसके साथ जैन गणित के क्षेत्र में योगदान देने वाले जैनाचार्यों की सूची भी विस्तृत होती जा रही है। यद्यपि विश्व गणितीय इतिहास में आज भी आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त, श्रीधर, महावीर एवं भास्कर-II ही स्थान पा सके हैं, किंतु भारतीय गणित इतिहास की नवीन प्रकाशित पुस्तकों में उमास्वाति, वीरसेन एवं नेमिचन्द्र को भी स्थान मिलने लगा है। अंग एवं उपांग साहित्य के अंतर्गत समवायांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग (ठाणं), भगवतीसूत्र (व्याख्याप्रज्ञप्ति), अनुयोगद्वार सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, सूर्य प्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति आदि में बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध है। मैं निम्नांकित सारणी में उन प्रमुख जैनाचार्यों को सूचीबद्ध कर रहा हूं जिनकी कृतियों में गणितीय सामग्री प्रचुरता से उपलब्ध होती है—

क्र.	आचार्य का नाम एवं काल	गणितीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कृतियां
1.	गुणधर (प्रथम श.ई.पू.)	कसाय पाहुड़
2.	कुन्दकुन्द (प्रथम श.ई.पू.)	पंचास्तिकाय आदि
3.	धरसेन (प्रथम श.ई.पू.)	षट्खंडागम
4.	पुष्पदन्त एवं भूतबली (प्रथम श.ई.पू.)	षट्खंडागम, महाबंध
5.	उमास्वामी (दूसरी श.ई.पू.)	तत्त्वार्थसूत्र
6.	उमास्वाति (दूसरी से चौथी श.ई.पू.)	तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्य
7.	यतिवृषभ (176-609 ई.)	तिलोयपण्णत्ती
8.	पूज्यपाद (देवनन्दि) (539 ई.)	सर्वार्थसिद्धि
9.	जिनभद्रगणि भाष्यकार (609 ई.)	विशेषावश्यकभाष्य
10.	अकलंक (620-680 ई.)	तत्त्वार्थ राजवार्तिक
11.	विद्यानन्द (775-840 ई.)	तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक
12.	श्रीधराचार्य (8वीं श.ई.)	पाटीगणित, त्रिंशतिका, बीजगणित (अनुपलब्ध) आदि
13.	वीरसेन (816 ई.)	धवला
14.	जिनसेन (9वीं श.ई.)	जयधवला

15.	महावीर (850 ई.)	गणितसार संग्रह आदि
16.	कुमुदेन्दु (860-880 ई.)	गणितीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कृतियां
17.	शीलांक (9वीं श.ई.)	सिरिभूवलय
18.	नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती (10-11वीं श.ई.)	गोम्मटसार, त्रिलोकसार, लब्धिसार, क्षपणासार
19.	माधवचन्द्र त्रैविद्य (10-11वीं श.ई.)	षट्त्रिंशिका, त्रिलोकसार आदि की टीका
20.	पद्मनन्दि—प्रथम (977-1043 ई.)	जम्बुद्दीवपण्णत्तिसंगहो
21.	अमितगति—द्वितीय (11वीं श.ई.)	चन्द्रप्रज्ञप्ति, सार्द्धद्वय प्रज्ञप्ति, व्याख्या प्रज्ञप्ति
22.	अभयदेव सूरि (1015-1078 ई.)	9 आगमों की टीकाएं
23.	हेमचन्द्र सूरि (1107 ई.)	अनुयोगद्वार वृत्ति, विशेषावश्यक भाष्यवृत्ति
24.	मलयगिरि (1080-1172 ई.)	सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि 24 ग्रंथों की टीकाएं
25.	राजादित्य (1120 ई.)	व्यवहार गणित, क्षेत्र गणित, व्यवहार रत्न, जैन गणित सूत्रोदाहरण, चित्रहसुगे, लीलावती
26.	सिंहतिलकसूरि (13वीं श.ई.)	गणित तिलक टीका
27.	ठक्कर फेरू (1265-1330 ई.)	गणितसार कौमुदी
28.	रत्नशेखर सूरि (1440 ई.)	लघु क्षेत्र समास
29.	महिमोदय (1665 ई.)	गणितसार साठसौ
30.	हेमराज (1673 ई.)	गणितसार
31.	तेजसिंह (17वीं श.ई.)	इष्टांकपंचविंशतिका
32.	पं. टोडरमल (1740-1767 ई.)	गोम्मटसार, त्रिलोकसार आदि पर सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका टीका

इसके अतिरिक्त हरिभद्रसूरि, पद्मप्रभसूरि, चन्द्रम् सिद्धसेन, महेन्द्रसूरि, मलयेन्दुसूरि, बुलाकीचन्द्र, बुलाकीदास आदि ने भी महत्त्वपूर्ण जैन ग्रंथों की रचना की है। इनके अतिरिक्त हमें अनेक ऐसे ग्रंथों के संदर्भ भी उपलब्ध साहित्य में प्राप्त होते हैं जो वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं, किंतु पूर्व में उपलब्ध थे।

सुविधा की दृष्टि से हम संपूर्ण उपलब्ध एवं अनुपलब्ध जैन गणितीय साहित्य को 6 वर्गों में विभाजित कर सकते हैं।

1. पूर्णतः गणितीय एवं जैनाचार्यों द्वारा लिखित ऐसे ग्रंथ जिनका अनुवाद एवं आलोचना प्रकाशित हो चुकी है जैसे—महावीराचार्य कृत 'गणितसार संग्रह', आचार्य श्रीधर कृत 'पाटी गणित' एवं 'त्रिंशतिका', सिंहतिलकसूरि कृत 'गणिततिलक टीका' (मूल लेखक—श्रीपति)।

2. ऐसे ग्रंथ जो पूर्णतः गणितीय हैं एवं अब तक उनका मात्र मूलपाठ ही प्रकाशित हो पाया है। जैसे—ठक्कर फेरू कृत 'गणित कौमुदी', लालचन्द्र कृत 'लीलावती' एवं 'अंक प्रस्तार'।

3. कतिपय ग्रंथों की पांडुलिपियां तो लेखक को प्राप्त हो गई हैं किंतु मूलपाठ एवं आलोचनात्मक अध्ययन अद्यतन अप्रकाशित हैं। जैसे—माधवचन्द्र त्रैविद्य कृत 'षट्त्रिंशिका', हेमराज (गोदीका) कृत 'गणितसार' एवं 'लोकांगच्छीय', तेजसिंहसूरि कृत 'इष्टांकपंचविंशतिका'।

4. इस वर्ग के अंतर्गत वे ग्रंथ आते हैं जिनकी पांडुलिपियां देश के विभिन्न शास्त्र भंडारों में सुरक्षित हैं, किंतु लेखक को इन्हें देखने का अवसर नहीं मिला जैसे महिमोदय कृत 'गणितसार साठसौ', आनन्द कवि कृत 'गणितसार', गणिविद्या पण्णत्ति, गणितसंग्रह, क्षेत्र गणित, क्षेत्र समास, गणित विलास, गणित कोष्ठक, पुद्गल भंग एवं वृत्ति सम्मिलित हैं। इनके बारे में विस्तृत जानकारी लेखक ने अपने आलेख 'जैन गणितीय साहित्य'[13] में दी है।

5. इस वर्ग में उन ग्रंथों को लिया जा सकता है जिनका उल्लेख विभिन्न ग्रंथों में विभिन्न प्राचीन एवं अर्वाचीन लेखकों ने किया है, किंतु उनकी पांडुलिपियां वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं यथा वृहद्धारा परिकर्म, सिद्धभूपद्धति एवं

उसकी टीका, करणसूत्र, करणभावना, अनन्तपाल कृत 'पाटीगणित', महावीराचार्य कृत 'छत्तीसपूर्वा' प्रतिउत्तर प्रतिसह, क्षेत्र गणित, त्रिंशति, क्षेत्र विचारणा, क्षेत्र समास, क्षेत्र समास बालाबोध आदि। इनका विवरण भी 'जैन गणितीय' लेख में उपलब्ध है।[14]

6. प्राकृत भाषा में रचित वर्तमान में अनुपलब्ध गणितीय ग्रंथों की विस्तारपूर्वक चर्चा लेखक के आलेख 'कतिपय अज्ञात जैन गणित ग्रंथ'[15] अथवा प्राकृत भाषा में निबद्ध गणितीय ग्रंथ[16] में द्रष्टव्य है। विस्तार भय से हम यहां उन संदर्भों की चर्चा नहीं कर रहे हैं। ऐसे ग्रंथ भी 4-5 हैं एवं अति-महत्त्वपूर्ण हैं।

मैं यहां जैन गणित की कतिपय मौलिकताओं को सूचीबद्ध कर रहा हूं।

(1) जैनाचार्यों ने संख्या का प्रारंभ 2 से किया है; यद्यपि वे गणना की प्रक्रिया 1 से शुरू करते हैं। उनकी दृष्टि में संख्या समूह की बोधक होती है एवं 1 (एक) वस्तु व्यावहारिक दृष्टि से कोई समूह नहीं बनाती (त्रिलोकसार गाथा-15)। इस प्रकार सर्वाधिक छोटी संख्या, जिसे जघन्य संख्यात कहा है, 2 है। ऐसी संख्याएं जिनके वर्ग में से स्वयं संख्या को घटाने पर संख्या से अधिक शेष बचता है, का एक अन्य वर्ग कृति बनाया है। संक्षिप्ततः—

I गिनतियां— 1, 2, 3, 4, 5....

II संख्याएं— 2, 3, 4, 5, 6.....

III कृतियां— 3, 4, 5, 6, 7....

(2) जैनाचार्यों ने स्थानमान की अत्यंत विस्तृत सूचियां दी हैं जो दाशमिक क्रम पर आधारित हैं। जिनभद्र गणि (7वीं श.ई.) के विशेषावश्यक भाष्य में उपलब्ध आवश्यक निर्युक्ति के उल्लेख से ई.पू. में जैन परंपरा में शून्य के प्रयोग एवं दाशमिक पद्धति का उपयोग पुष्ट होता है। कतिपय प्रमुख जैन आचार्यों द्वारा प्रस्तुत स्थानमान की सूची के पदों की संख्या निम्न प्रकार है—

श्रीधराचार्य (799 ई.)	18 पद
महावीराचार्य (850 ई.)	24 पद
राजादित्य (1150 ई.)	40 पद

ये सूचियां समकालीन अन्य सूचियों की अपेक्षा अधिक विस्तृत एवं भिन्न हैं।

(3) जैनाचार्यों ने संख्याओं को व्यक्त करने हेतु अनेक विधियों का प्रयोग किया है। यथा—

I अंकों द्वारा

II अक्षर संकेतों द्वारा

III शब्द संकेतों द्वारा

प्रत्येक अंक अथवा संख्या को व्यक्त करने वाले अनेक अक्षर एवं शब्द नियत हैं। इन शब्दों का चयन जैन वाङ्मय से किया गया है यथा रत्न-3, गति-3, इंद्रियां-5, द्रव्य-6, तत्त्व-7, गुणस्थान-14, तीर्थंकर-24 अक्षरों द्वारा अंकों को लिखने की पद्धति गोम्मटसार में उपलब्ध है (जीवकांड गाथा-157)।

अंकों एवं अक्षरों, दोनों के माध्यम से संख्याओं को व्यक्त करने की अनेक विधियों का प्रयोग जैन ग्रंथों में मिलता है।

I दाईं ओर से बाईं ओर तक प्रत्येक अंक का प्रतिपादन एवं व्युत्क्रम।

II स्थानमान के आधार पर अंकों का प्रतिपादन।

III आदि एवं अंत के अंकों का उल्लेख कर मध्य के तुल्य अंकों का एक साथ उल्लेख।

IV किसी संख्या के वर्ग या घन के रूप में किसी संख्या को व्यक्त करना।

V शब्दों द्वारा अंकों का स्थान क्रमानुसार उल्लेख।

(4) जैनाचार्यों ने समस्त संख्याओं को 3 मुख्य वर्गों एवं पुनः 21 उपवर्गों में विभाजित कर उनमें अंतर एवं क्रम निर्धारित किया है।

I संख्यात—जहां तक गणना संभव है।

II असंख्यात—गणना से आगे की राशि किंतु अगणनीय अनंत से छोटी।

III अनंत—असंख्यात से बड़ी किंतु व्यय होने पर भी अनंत काल तक न समाप्त होने वाली।

पुनः संख्यात को 3, असंख्यात को 9 एवं अनंत को 9 भेदों में विभाजित कर उनमें सूक्ष्म अंतर किया है।[17] अनंत को स्वरूप एवं प्रकृति के आधार पर 11 भेदों में अलग से भी विभाजित किया गया।[18]

(5) संख्यात संख्याओं में भी बहुत बड़ी-बड़ी संख्याओं का प्रयोग हुआ है। इन विशाल संख्याओं की मात्र कल्पना न कर उनका कालमान की सूची में विधिवत् उपयोग किया गया है। अचलात्म ($84^{31} \times 10^{99}$ वर्ष) तथा शीर्ष प्रहेलिका ($84^{28} \times 10^{140}$)* इसके सुंदर उदाहरण हैं।

जैन आचार्यों ने बड़ी संख्याओं को व्यक्त करने हेतु घातांकों के आधुनिक सिद्धांतों, अल्प बहुत्व की मौलिक

रीति, वर्गित संवर्गित की रीति, जिसके अंतर्गत 2 का तृतीय वर्गित संवर्गित 256^{256} की विशाल राशि है, अर्द्धच्छेद एवं वर्गशलाका के नाम से आधुनिक लघुगुणक (Lograthims) के सिद्धांतों का प्रयोग किया है, लघुगुणक का वर्तमान में प्रचलित रूप धवलाटीका (826 ई.) में विद्यमान है। पाश्चात्य वैज्ञानिक इनके आविष्कार का श्रेय John Napier (1614 A.D.) एवं Burgi (1600 A.D.) को देते हैं जो सम्यक् नहीं है। प्रो. ए.एन.सिंह ने इसे पूर्णतः जैनियों का आविष्कार माना है।

(6) जैन आचार्यों ने विभिन्न गणितीय राशियों, संख्यात, असंख्यात, अनंत, शून्य, पल्य, सागर, लोक, जगश्रेणी, अंगुल, धनांगुल तथा गणितीय-प्रक्रियाओं—योग, अंतर, गुणन, भाग, अर्द्धच्छेद वर्गशलाका आदि को व्यक्त करने हेतु अनेक चिह्नों का प्रयोग किया है। कई राशियों हेतु समान चिह्न को प्रयोग में लाने के किंचित दोष से युक्त होते हुए भी यह पद्धति मौलिक है। एक ही संदर्भ में भिन्न राशियों हेतु समान चिह्न का प्रयोग न करके भिन्न संदर्भों में ऐसा किया है। भिन्न ग्रंथों में एक ही प्रक्रिया हेतु भी भिन्न-भिन्न संकेत मिलते हैं। फलतः इन संकेतों का अर्थ ग्रहण करना वर्तमान में दुरूह अवश्य है, किंतु जटिल प्रक्रियाओं को इस माध्यम से अत्यंत संक्षेप में व्यक्त कर दिया गया है, जो उस समय गणितीय विकास का आधार बनी।

(7) पूर्णांक संख्याओं के समान ही भिन्नों के विकास में भी जैनाचार्यों का अतिविशिष्ट स्थान है। सूर्यप्रज्ञप्ति (500 ई.पू.) में अनेक प्रकार की जटिल भिन्नों, उनके गुणन, भाग, व्युत्क्रम, विच्छेद आदि के उदाहरण मिलते हैं। परवर्ती ग्रंथों में भी इनका व्यापक रूप में प्रयोग किया गया है। अनुयोग द्वार सूत्र (150 ई.) एवं तिलोयपण्णती में करणीगत राशि $\sqrt{a+E}$ का मान $a+E/2a$ प्रयोग किया गया है। श्रीधर कृत त्रिंशतिका के उपरांत धवलाटीका में वितत भिन्नों का सुंदर निर्वचन अन्य उदाहरणों सहित उपलब्ध है।[19] ये प्रकरण पश्चिमी भारत में विकसित होने के बाद प्रचलित हुए।

महावीराचार्य (850 ई.) ने भिन्नों के योग हेतु लघुत्तम समापवर्त्य का नियम (निरुद्ध नाम से) तथा किसी भी भिन्न को इकाई अंश वाली भिन्नों अर्थात् एकांशक भिन्नों के पदों में व्यक्त करने के अनेक नियम प्रस्तुत किए हैं। ये दोनों महावीराचार्य के मौलिक योगदान हैं।

(8) महावीराचार्य ने सर्वप्रथम ऋणात्मक संख्याओं की प्रकृति में वर्गमूल न होने के कथन के माध्यम से प्राकृतिक संख्याओं में ऋणात्मक संख्याओं के वर्गमूल की उपस्थिति को नकारा। उनके इस प्रयास ने काल्पनिक संख्याओं के विकास का पथ प्रशस्त किया।[20]

(9) क्रमचय एवं संचय का विषय जैन साहित्य में विशदता के साथ भंग एवं विकल्प शीर्षकों के अंतर्गत प्राचीन काल से उपलब्ध है। यत्र-तत्र इसको प्रस्तार, परिवर्तन, आलाप की संज्ञा दी गई है। ईसा पूर्व के ग्रंथों—भगवतीसूत्र, स्थानांगसूत्र, अनुयोगद्वारसूत्र (150 ई.पू.–150 ई.) में n वस्तुओं में से 1, 2, 3... वस्तुओं को प्राप्त करने के नियम दिए हैं।

$$^nc_1 = n, \quad ^nc_2 = \frac{n(n-1)}{1.2} \quad ^nc_3 = \frac{n(n-1)(n-2)}{1.2.3}$$

$$^np_1 = n, \quad ^np_2 = n(n-1) \quad ^np_3 = n(n-1)(n-2)$$

उपरांत लिखा है कि इसी प्रकार 5, 6, 7.... 10 संख्यात, असंख्यात के संदर्भ में इनका मान ज्ञात किया जा सकता है। अनुयोगद्वार सूत्र की हेमचन्द्रसूरि कृत टीका से स्पष्ट है कि व्यापक सूत्र—

$$^np_n = n$$

का ज्ञान इसकी उपपत्ति सहित जैनाचार्यों को था। महावीराचार्य (850 ई.) ने n वस्तुओं में से r के चयन का व्यापक सूत्र दिया है।[21]

$$^nC_r = \frac{n(n-1)(n-2)\ldots\ldots\ldots\ldots(n-r-1)}{1.2.3\ldots\ldots\ldots r}$$

$$= \frac{n!}{r!(n-r)!}$$

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती कृत गोम्मटसार में भी भंग संज्ञा से इस विषय का सुंदर एवं व्यावहारिक विवेचन मिलता है।

(10) श्रेणियों के संदर्भ में जैनाचार्यों का योगदान अद्वितीय है। तिलोयपण्णती, श्रीधराचार्य की त्रिंशतिका, महावीराचार्य कृत गणितसार संग्रह, त्रिलोकसार आदि 10वीं श.ई. के पूर्व के ग्रंथों में एवं ठक्कर फेरू की गणितसार कौमुदी में श्रेणियों का व्यापक प्रयोग उत्कृष्टता के साथ उपलब्ध है, किंतु इन सबमें महावीराचार्य एवं आ. नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती का योगदान सर्वोच्च है।

तिलोयपण्णती में समांतर एवं गुणोत्तर श्रेणी के n पदों का योगफल, प्रथम पद, सार्वंतर आदि निकालने के 10 सूत्रों का प्रयोग विविध प्रकरणों में प्रत्यक्ष/परोक्ष रूप से मिलता है।

महावीराचार्य ने समांतर एवं गुणोत्तर श्रेणी के वर्तमान में प्रचलित नियमों को तो निर्दिष्ट किया ही है, किंतु रूपांतरित समानांतर एवं गुणोत्तर श्रेणियों तथा मिश्र श्रेणियों के उपचार की तकनीकों को विकसित कर अपनी विशिष्ट प्रतिभा का परिचय दिया है।

आपने किसी गुणोत्तर श्रेणी के प्रत्येक पद में एक निश्चित राशि जोड़ने से बनने वाली श्रेणी, n प्राकृतिक संख्याओं, प्राकृतिक संख्याओं के वर्गों, प्राकृतिक संख्याओं के घनों, श्रेणी जिसका प्रत्येक पद प्राकृतिक संख्याओं का योग है, सतत श्रेणियों के n पदों का योग निकालने के नियम दिए, जो समकालीन ही नहीं अपितु परवर्ती साहित्य में अनेक शताब्दियों तक अनुपलब्ध रहे।

नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने 14 विशिष्ट अवरोही अनुक्रमों (Divergent Sequences) के सुंदर विवेचन प्रस्तुत किए हैं।

(11) बीजगणितीय समीकरणों के क्षेत्र में भी जैनाचार्यों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। प्राचीन जैन ग्रंथों—स्थानांग सूत्र (सूत्र-747) आदि में समीकरणों के प्रकार आदि का उल्लेख मिलता है, बीजीय राशियों से संबद्ध महत्त्वपूर्ण सामग्री भी उपलब्ध है। भास्कराचार्य के उल्लेखानुसार श्रीधर के अनुपलब्ध ग्रंथ बीजगणित में द्विघात समीकरण ax^2+bx+c को हल करने की आधुनिक रीति दी है—

चतुराहत वर्गसमैरूपैः पक्षद्वयं गुणयेत्।
अव्यक्त वर्गरूपैर्युक्तो पक्षो ततो मूलम्।।

यदि समी. $ax^2+bx=c$ है, तो

$$4a\,(ax^2+bx)+b^2=4ac+b^2$$

$$4a^2x^2+4abx=b^2=b^2+4ac$$

$$\pm(2ax+b)=\sqrt{b^2+4ac}$$

$$x=\frac{-b\pm\sqrt{b^2+4ac}}{2a}$$

महावीराचार्य ने तो एक घात, द्विघात, त्रिघात एवं बहुघात वाली एक अज्ञात राशि एवं अनेक अज्ञात राशि के समकरणों, युगपत् समीकरणों को हल करने की विधियां रोचक उदाहरणों सहित दी हैं।

ज्यामिति में बीजगणित का अनुप्रयोग जैनाचार्यों का वैशिष्ट्य है। स्वेच्छापूर्वक चयनित सार्थकजन्य बीज राशियों से किसी समकोण की रचना, एक निश्चित भुजा वाले विभिन्न समकोण त्रिभुजों की रचना, निश्चित परिमाप अथवा क्षेत्रफल वाले अनेक समकोण त्रिभुजों की रचना, निश्चित क्षेत्रफल अथवा अनुपात के आयत युगलों की रचना के नियम दिए हैं। वस्तुतः एक निश्चित कर्ण माना C वाले विभिन्न समकोणों की शेष दो भुजाओं के मापों के समूहों को ज्ञात करने हेतु जो तथाकथित Fibonacci Sequence प्रचलित है, वह 1202 A.D. में Fibonacci द्वारा पुनः आविष्कृत होने से 350 वर्ष पूर्व 850 ई. में महावीराचार्य द्वारा प्रतिपादित हो चुका था।[22]

$$\frac{c,\,[m^2-n^2]}{m^2+n^2},\quad \frac{c,\,[2\,mn]}{m^2+n^2},\ c$$

(12) त्रैराशिक, जिसे पाटीगणित में सर्वाधिक प्रमुखता प्राप्त है, जैनाचार्यों में प्रारंभ से ही लोकप्रिय रहा है। श्रीधर के पाटीगणित सार, महावीराचार्य के गणितसार-संग्रह, वीरसेन की धवला, नेमिचन्द्र के त्रिलोकसार सहित अनेक जैन ग्रंथों में त्रैराशिक, व्यस्त त्रैराशिक तथा मिश्रानुपात के अनेक प्रयोग मिलते हैं। इन उदाहरणों में स्वाभाविकता, सरलता, सरसता एवं बोधगम्यता है एवं यही है इस क्षेत्र में जैनाचार्यों का वैशिष्ट्य।

(13) लोक संरचना के विवेचन के संदर्भ में जैन वाङ्मय के करणानुयोग विभाग के ग्रंथों में क्षेत्रगणित विषयक सामग्री विपुल परिमाण में उपलब्ध है। ज्योतिर्विज्ञान के प्राचीनतम उपलब्ध ग्रंथ सूर्य प्रज्ञप्ति (500 ई.पू.) में 8 विशिष्ट प्रकार की आकृतियों एवं भगवती सूत्र (300 ई.पू.) तथा अनुयोग द्वार सूत्र (150 ई.पू.-150 ई.) में 5 विशेष प्रकार की ज्यामितीय आकृतियों की चर्चा है। सूत्रकृतांग में इस विषय को गणितसरोज की संज्ञा दी गई है। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, तत्त्वार्थाधिगमसूत्र भाष्य, ज्योतिषकरंडक, जीवाभिगम सूत्र, तिलोयपण्णती, धवला, जम्बुद्दीवपण्णत्तिसंगहो, त्रिलोकसार आदि 10-11वीं शताब्दी ई. से पूर्व के ग्रंथों में विभिन्न ज्यामितीय आकृतियों के क्षेत्रफल, परिधि ज्ञात करने के अनेक सूत्र उपलब्ध हैं। धवलाटीका के एक अंग क्षेत्रप्रमाणानुगम में भी महत्त्वपूर्ण ज्यामितीय विवेचनों का बाहुल्य है। इसमें किसी भी जटिल आकृति का क्षेत्रफल ज्ञात करने की विच्छेदन आदि 8 विधियां दी हैं, वृत्त विषयक ज्यामिति के विकास की तो पूर्ण रूप से जैनाचार्यों की ही देन है।

जैन गणितज्ञों में शीर्षस्थ महावीराचार्य ने यवाकार, मुरजाकार, पणवाकार, वज्राकार, एक निषेध क्षेत्र, उभय निषेध क्षेत्र, तीन या चार संस्पर्शी वृत्तों से आबद्ध क्षेत्र का क्षेत्रफल ज्ञात करने के सूत्र सर्वप्रथम दिए। क्षेत्रमिति के

महत्त्वपूर्ण आनुपातिक स्थिरांक, परिधि/व्यास, जिसे वर्तमान में π की संज्ञा दी जाती है, का मान सूर्य प्रज्ञप्ति, ज्योतिष करंडक, भगवती सूत्र, तिलोयपण्णती एवं गणितसार संग्रह में $\sqrt{10}$, जीवाभिगम सूत्र में $\sqrt{10}$, तथा 3. 16 मिलता है। धवला में π का मान आश्चर्यजनक रूप से शुद्ध तथा संपूर्ण भारतीय साहित्य में उपलब्ध मानों से भिन्न रूप में 355/113 मिलता है।

(14) ठोस ज्यामिति के नियमों का लोक के स्वरूप के विवेचन हेतु ज्ञान जैनाचार्यों हेतु आवश्यक था। उन्होंने अधिकांश ज्यामितीय आकृतियों के 2 रूपों—प्रतर एवं घन की चर्चा की है। घन से आशय ठोस आकृति से है। भगवती सूत्र एवं अनुयोगद्वार सूत्र में घनत्रयस्र, घनचतुरस्र, घनायत, घनवृत्त तथा घनपरिमंडल क्रमशः प्रिज्म,—आयतफलकी, गोला एवं बेलन हेतु प्रयुक्त हुए हैं। तिलोयपण्णती में अनेक आकृतियों के आयतन एवं पृष्ठ क्षेत्रफल ज्ञात करने के सूत्र एवं उनके अनुप्रयोग मिलते हैं। धवला में घनाकार लोक के आयतन ज्ञात करने की प्रक्रिया में अद्वितीय एवं अन्यत्र अनुपलब्ध विधि का विस्तृत विवरण उपलब्ध है (धवला, क्षेत्रप्रमाणानुगम, पु. 4)। गणितसार संग्रह में गोलीय खण्ड का पृष्ठ क्षेत्र ज्ञात करने का सूत्र पर्याप्त शुद्धता के साथ उपलब्ध है, वस्तुतः इसका घात व्यवहार प्रकरण संपूर्णतः ठोस ज्यामिति का ही अध्याय है।

(15) आधुनिक बीजगणित (Modern Algebra) के मूलाधार समुच्चय की अभिधारणा ही नहीं, अपितु भेद-उपभेद, उदाहरण, उन पर संक्रियाएं, षट्खंडागम की धवला-टीका में राशि नाम से उपलब्ध हैं। राशि वहां समुच्चय का ही पर्याय है, एकैकी संगति (One one Mapping) सुक्रमबद्धी प्रमेय (Well ordering Theorem) का वहां प्रयोग हुआ है। विश्वविख्यात जैन कर्म सिद्धांत का आधुनिक निकाय सिद्धांत से अद्वितीय साम्य है। वहां कर्मों के बंध, आस्रव, संवर, निर्जरा में जिन पद्धतियों का विवेचन है, वे सब वर्तमान शताब्दी में विकसित निकाय सिद्धांत के समकक्ष हैं।

यह प्रासंगिक ही होगा कि जैन गणित से संबद्ध समस्त ग्रंथ एवं संदर्भों का अविलंब संकलन कर गणितज्ञों, प्राकृत एवं संस्कृत भाषाविदों तथा जैन दर्शन के मर्मज्ञ विद्वानों के एक दल द्वारा उनका विश्लेषण किया जाए, जिससे विश्व क्षितिज पर जैन गणित को गौरवपूर्ण ढंग से प्रतिष्ठित किया जा सके।

संदर्भ

1. गोम्मटसार (जीवकांड), आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती, टोडरमल की भाषा वचनिका सहित, जैन सिद्धांत प्रकाशिनी संस्था—कलकत्ता, 1919, पूर्व पीठिका, पृ. 58.
2. गणितसार संग्रह, महावीराचार्य, अनु.—प्रो. लक्ष्मीचन्द्र जैन, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, डा. हीरालाल जैन एवं आ.ने. उपाध्ये का ग्रंथमाला संपादकीय.
3. रत्नकरंड श्रावकाचार, आचार्य समंतभद्र 2/43-2/46.
4. आवश्यक कथा—श्लोक 174.
5. गणितसार—संग्रह, आचार्य महावीर (850 ई.), हिन्दी अनुवाद—प्रो. लक्ष्मीचन्द्र जैन, जैन संस्कृति संरक्षक संघ—शोलापुर, 1963, अध्याय-1, श्लोक-16 (1/16).
6. त्रिंशतिका, आचार्य श्रीधर, पं. सुधाकर द्विवेदी, वाराणसी, 1899.
7. D.E. Smith, Ganita-Sāra-Samgraha of Mahāvirācārya, B.M. (Leipzing), 1908, pp 106-110.
8. गणितसार संग्रह 1/17-19, आदिपुराण—पृ. 105-109, शत्रुंज्जय काव्य 3/330, पुष्पदंत कृत महापुराण 5/18.
9. भगवती सूत्र, सूत्र—90.
10. ठाणं (स्थानांग सूत्र), जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं, 1980, 10/100, सूत्र 747, पृ. 120.
11. अनुपम जैन, 'जैन आगमों में निहित गणितीय अध्ययन के विषय' तुलसी प्रज्ञा (लाडनूं) 13 (1987), pp 57-64.
12. B.B. Dutt, The Jaina School of Mathematics, B.C.M.S. (Culcutta), 21 (1929), pp 115-145.
13. अनुपम जैन, जैन गणितीय साहित्य, अर्हत् वचन (इंदौर) 1 (1), 1988, 19-40.
14. वही.
15. अनुपम जैन, कतिपय अज्ञात जैन गणित ग्रंथ, गणित भारती (दिल्ली) 4 (1,2), 1981, पृ. 61-71.
16. अनुपम जैन, प्राकृत भाषा में निबद्ध गणितीय ग्रंथ, तुलसी प्रज्ञा (लाडनूं), 26 (106), जुलाई-99, पृ. 35-43.
17. तिलोयपण्णती 1/310-312.

* संपादक : अर्हत् वचन सचिव : कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, 584, महात्मा गांधी मार्ग, तुकोगंज, इंदौर 452001 (म. प्र.).

18. धवला पु.-3.
19. धवला पु.-3, गाथा—23-32.
20. गणितसार संग्रह, 1/52.
21. वही 6/217.
22. वही 7/122½.

❖

आचार्य भिक्षु चरमोत्सव

अध्यात्म और सामाजिकता : आचार्य भिक्षु की दृष्टि में

❑ प्रो. दयानन्द भार्गव ❑

आचार्य भिक्षु ने एक सिद्धांत दिया कि चाहे साध्य कितना ही उत्तम हो उसकी सिद्धि के लिए साधन भी उचित ही बरतना चाहिए। इस नियम को उन्होंने आध्यात्मिक जगत में लागू किया। अध्यात्म का साध्य है—आत्मा की पवित्रता। अपवित्र साधन के द्वारा पवित्रता की सिद्धि उसी प्रकार नहीं हो सकती जिस प्रकार कीचड़ से कपड़े को साफ नहीं किया जा सकता।

धर्म के अनेक विषय प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से जाने जा सकते हैं, किंतु कुछ पक्ष ऐसे हैं जिन्हें केवल आगम द्वारा ही जाना जा सकता है। पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक आदि को हम प्रत्यक्ष अथवा अनुमान द्वारा नहीं जान सकते। ये केवल आगमगम्य हैं। आचार्य भिक्षु का पाप-पुण्य संबंधी विवेचन जैन आगमों पर आधारित है। सामाजिक जीवन का आधार प्रत्यक्ष अथवा अनुमान है, जबकि अध्यात्म के परोक्ष विषयों का आधार आगम प्रमाण है।

यदि हम पाप और अपराध के अंतर को समझेंगे तो आध्यात्मिक और सामाजिक कृत्यों का अंतर भी स्पष्ट हो जाएगा। एक समय सती होना अपराध नहीं था। आज वह दंडनीय अपराध है। किसी समय भिक्षा मांगना भी अपराध नहीं था, किंतु आज कानून की दृष्टि में भिक्षा मांगना एक अपराध है। पाप की अवधारणा इस प्रकार बदलती नहीं है। जो सैकड़ों वर्ष पूर्व पाप था वह आज भी पाप है। किसी प्राणी को किसी भी प्रकार की पीड़ा देना पहले भी पाप था, आज भी पाप है और भविष्य में भी पाप रहेगा। कानून बदलकर इस सिद्धांत को बदला नहीं जा सकता।

स्पष्ट है कि पाप और अपराध दो भिन्न अवधारणाएं हैं। इसी प्रकार पुण्य और सामाजिक कर्तव्य भी दो भिन्न अवधारणाएं हैं। पाप और पुण्य का मूल आधार वीतरागता है। सामाजिक कर्तव्य-अकर्तव्य का मूल आधार रागात्मकता है। वीतरागता का अर्थ है न जीवन की आकांक्षा, न मृत्यु की आकांक्षा—'नो जीवियं नो मरणाभिकंखी।' रागात्मकता का आधार है जिजीविषा, जीने की इच्छा। दोनों में मौलिक भेद है। जीवन और मरण दोनों इच्छाओं से ऊपर उठना ज्ञान का फल है। जहां जीवन है वहां मरण अवश्यंभावी है। ज्ञान हमें जीवन और मरण दोनों की इच्छाओं से मुक्त करता है।

जीवन में पदार्थ भोग संभव है। हमें भोग प्रिय है इसलिए जीवन भी प्रिय है। मृत्यु के बाद भोग मिलेंगे या नहीं, अथवा मृत्यु के बाद भोग भोगने वाला भी रहेगा या नहीं—यह संदिग्ध है। इसलिए हम मृत्यु से डरते हैं। निष्कर्ष यह है कि जीवन की इच्छा मूलतः भोगों की इच्छा पर टिकी है। इसलिए वह धर्म नहीं है, वह मोह का परिणाम है।

भ्रम तब उत्पन्न होता है जब हम रागात्मकता के आधार पर निर्मित सामाजिक कर्तव्य-मीमांसा और वीतरागता के आधार पर खड़ी हुई पाप-पुण्य मीमांसा को विभक्त नहीं करते। अनेक विषय ऐसे हैं जो सामाजिक दृष्टि से भी त्याज्य हैं और अध्यात्म की दृष्टि से भी त्याज्य हैं। उदाहरणतः चोरी करना दोनों दृष्टियों से त्याज्य है। कुछ विषय ऐसे भी हैं जो दोनों दृष्टियों से हितकर हैं। उदाहरणतः मिताहार दोनों दृष्टियों से करणीय है। जहां सामाजिकता और आध्यात्मिकता—दोनों दृष्टियां एक ही प्रकार का निर्णय लेती हैं वहां कोई कठिनाई नहीं होती। कठिनाई तब होती है जब कोई कर्म सामाजिक दृष्टि से करणीय होता है किंतु अध्यात्म की दृष्टि से वह निर्दोष नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में आचार्य भिक्षु की दृष्टि यह है कि सामाजिक जीवन जीने वाले अपनी भूमिका के अनुसार अपने कर्तव्य का पालन करेंगे। किंतु इसका यह अर्थ नहीं होगा कि आध्यात्मिक दृष्टि से भी उन कामों को निर्दोष मान लिया जाए। उदाहरणतः एक सैनिक अपने देश को शत्रुओं के आक्रमण से बचाने के लिए शत्रु पर प्रहार करेगा। यह उसका लौकिक धर्म है जो उसे सैनिक की

दृष्टि से निभाना है, किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि सैनिक के द्वारा शत्रु का मारा जाना अहिंसा मान लिया जाए।

लौकिक कर्तव्य और अध्यात्म के बीच विरोध का कारण रागात्मकता और वीतरागता है। रागात्मकता को वीतरागता नहीं कहा जा सकता। यहां एक बात की ओर ध्यान देना आवश्यक है कि यद्यपि अध्यात्म की दृष्टि से लौकिक कर्तव्यों में उचित-अनुचित का विवेक करना ठीक नहीं है, तथापि लौकिक कर्तव्य में उचित-अनुचित के विवेक करने का अपना मानदंड है। उदाहरणतः युद्ध करते हुए आत्मरक्षा में ही सैनिक का शस्त्र प्रयोग उचित है, जबकि निरपराध पर शस्त्र प्रहार करना अनुचित है। अभिप्राय यह है कि युद्ध के भी अपने नियम हैं, उन नियमों का पालन करना सैनिक का धर्म है। यदि सैनिक उन नियमों का उल्लंघन करता है तो वह कर्तव्य से च्युत होता है।

आचार्य भिक्षु के सिद्धांतों के बारे में यह गलत अवधारणा बन गई कि उनके सिद्धांत समाज-विरोधी थे। सामाजिकता का अपना क्षेत्र है। समाज को सुव्यवस्थित करने के लिए जिन नियमों का पालन किया जाना चाहिए वे नियम समय-समय पर सामाजिक संस्थाएं बनाती रहती हैं। आचार्य भिक्षु का यह अभिप्राय कभी नहीं था कि उन सामाजिक नियमों का पालन सामाजिक पुरुषों को नहीं करना चाहिए। आगम के अध्येता होने के नाते आचार्य भिक्षु को इस बात का पूरा अहसास था कि कुल, ग्राम या राष्ट्र के अपने-अपने धर्म और नियम हैं। सामाजिक पुरुषों को उनका पालन करना ही चाहिए।

आचार्य भिक्षु ने एक सिद्धांत दिया कि चाहे साध्य कितना ही उत्तम हो उसकी सिद्धि के लिए साधन भी उचित ही बरतना चाहिए। इस नियम को उन्होंने आध्यात्मिक जगत में लागू किया। अध्यात्म का साध्य है—आत्मा की पवित्रता। अपवित्र साधन के द्वारा पवित्रता की सिद्धि उसी प्रकार नहीं हो सकती जिस प्रकार कीचड़ से कपड़े को साफ नहीं किया जा सकता। अध्यात्म की दृष्टि में सभी जीव समान हैं। किसी जीव को हानि पहुंचाकर दूसरे जीव को लाभ पहुंचाने की बात सोचना जीव और जीव के बीच भेद करना होगा। प्रत्येक जीव की अपनी गरिमा है। अधिक जीवों को बचाने के लिए थोड़े जीवों की बलि चढ़ा देना जीव की स्वतंत्रता का हनन है। इन सिद्धांतों के आधार पर आचार्य भिक्षु ने उचित-अनुचित का विवेक किया। इस विवेक के जो निष्कर्ष थे वे सबको स्वीकार्य नहीं हो सकते, क्योंकि सबकी दृष्टि में समाज का आधार वीतरागता नहीं है।

अध्यात्म और समाज के बीच मूलभूत अंतर होने के कारण दोनों क्षेत्रों में उचित और अनुचित का आधार अलग-अलग होगा। जो आगम विरुद्ध है, वह अध्यात्म की दृष्टि से अनुचित है। लौकिक दृष्टि से तत्-तत् संस्थाओं के नियमों का उल्लंघन अनुचित है। इन दोनों के बीच भेद करना चाहिए।

आचार्य भिक्षु के सिद्धांत को ठीक से समझने के लिए हमें अध्यात्म और सामाजिकता के बीच भेद करना होगा। अध्यात्म की दृष्टि से परिग्रह मात्र बंधन का कारण है। लौकिक दृष्टि से भी अनुचित साधनों से धनोपार्जन त्याज्य है। ईमानदारी से मेहनत करके पैसा कमाना लौकिक दृष्टि से हेय नहीं है। जबकि अनुचित साधनों से कुछ भी हासिल करना लौकिक दृष्टि से हेय है।

आचार्य भिक्षु के साधन-साध्य संबंधी सिद्धांत को यदि लौकिक क्षेत्र में लागू करके देखा जाए तो वह सामाजिक जीवन को भी स्वच्छ बना सकता है। सामाजिक प्राणी की अनेक आवश्यकताएं होती हैं, उन आवश्यकताओं की पूर्ति करना उसका साध्य है। किंतु इस साध्य की पूर्ति उसे उचित साधनों द्वारा ही करनी है। यह संभव है कि लौकिक दृष्टि से जो साधन उचित हैं, अध्यात्म की दृष्टि से वे साधन भी अनुचित ही सिद्ध होते हैं। किंतु लौकिकता के क्षेत्र में लौकिक नियम ही लागू होंगे आध्यात्मिक नियम नहीं।

लौकिकता और आध्यात्मिकता के बीच भेद को हम अनेक बिंदुओं के माध्यम से समझ सकते हैं। आचार्य भिक्षु इन दोनों के बीच मिश्रण के पक्षधर नहीं थे।

इसे समझने के लिए हम निम्न प्रकार से विचार कर सकते हैं—

- अग्नि उष्ण है, इसका ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा हो जाता है। जहां धुआं है वहां अग्नि है, यह ज्ञान भी अनुमान प्रमाण के द्वारा हो जाता है। किंतु पुण्य से स्वर्ग मिलता है और पाप से नरक मिलता है—यह ज्ञान न प्रत्यक्ष के द्वारा होता है न अनुमान द्वारा। पुनर्जन्म के साथ जुड़ा हुआ कर्म-सिद्धांत भी प्रत्यक्ष अथवा अनुमान का विषय नहीं है। 'पाणिनी' के अनुसार कर्मफल में विश्वास करना ही आस्तिकता का लक्षण है—'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिर्यस्य'। आस्तिकता कहें अथवा आध्यात्मिकता एक ही बात है। कर्मफल प्रत्यक्ष अथवा अनुमान द्वारा जाना जा सकता है तो अलग से आगम प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। प्रमाण के संबंध में दो प्रकार के मत हैं—प्रमाणविप्लव और प्रमाणव्यवस्था। प्रमाणविप्लव के अनुसार एक ही प्रमेय को एक से अधिक

प्रमाणों द्वारा जाना जा सकता है। प्रमाणव्यवस्था के अनुसार प्रत्येक प्रमेय के लिए एक प्रमाण-विशेष निर्धारित है। इस प्रमाणव्यवस्था के मत का अनुसरण करते हुए मनु ने कहा है कि जिसे प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा न जाना जा सके उसे वेद द्वारा जाना जाता है। यही वेद की वेदता है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
तद् विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता।।

अभिप्राय यह है कि आगम में वह ज्ञान है जो अतींद्रिय है। इस अतींद्रिय ज्ञान के प्रमाण के आधार पर ही अध्यात्म टिका है।

इसके विपरीत सामाजिक नियमों के निर्माण में किसी अतींद्रिय ज्ञान का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं रहती। समाज के सभी विषय प्रत्यक्ष अथवा अनुमानगम्य हैं। क्योंकि उनका संबंध परलोक से नहीं है, इहलोक से है। उन नियमों के निर्माण में तर्कशक्ति का प्रयोग अवश्य किया जाता है, किंतु आगम का सहारा लेना आवश्यक नहीं।

अध्यात्म और सामाजिकता में परस्पर व्यामोह इसलिए हो जाता है कि अध्यात्म और सामाजिकता के अनेक नियम समान हैं। उदाहरणतः मनुष्य की हत्या करना सामाजिकता की दृष्टि से भी अपराध है और अध्यात्म की दृष्टि से भी पाप है। किंतु पशु का मांस खाना अध्यात्म की दृष्टि से पाप हो सकता है, कानून की दृष्टि में दंडनीय अपराध नहीं है।

● लौकिक नियमों में निरंतर परिवर्तन होते रहे हैं। एक समय राजतंत्र मान्य था, आज प्रजातंत्र मान्य हो गया है। एक समय स्त्रियों के लिए पर्दा आवश्यक था, आज पर्दा आवश्यक नहीं है। पूंजीवादी व्यवस्था में व्यक्ति कितना भी धन रख सकता है, साम्यवादी व्यवस्था में व्यक्ति एक सीमा से अधिक धन नहीं रख सकता।

अध्यात्म के नियमों में ऐसी परिवर्तनशीलता नहीं है। यदि हिंसा बुरी थी, तो आज भी बुरी है और भविष्य में भी बुरी रहेगी। यदि सामाजिक नियमों को अध्यात्म से जोड़ा जाएगा तो सामाजिक नियम भी अपरिवर्तनीय हो जाएंगे।

● अध्यात्म संबंधी नियम एक दृष्टि से अनुल्लंघनीय है। आध्यात्मिक नियमों का पालन व्यक्ति स्वेच्छा से करता है, इसलिए उन नियमों की पालना में तारतम्य रहता है। एक व्यक्ति केवल पशु-हिंसा को छोड़ता है। दूसरा वनस्पतिकाय की भी हिंसा को एक सीमा तक छोड़ देता है। तीसरा महाव्रती स्थूल-सूक्ष्म सभी प्रकार की हिंसा को छोड़ देता है। यह क्रम व्यक्ति की संकल्पशक्ति की दृढ़ता पर निर्भर करता है।

सामाजिक नियम दो भागों में बंटे हैं। कुछ नियम कानून की पकड़ में आते हैं, कुछ कानून की पकड़ में नहीं भी आते हैं। जो नियम कानून की पकड़ में आते हैं, उनमें व्यक्ति के पास विकल्प नहीं हैं। उदाहरणतः चोरी करना कानूनी अपराध है। कोई व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि उसने केवल अमुक-अमुक प्रकार की चोरी का त्याग किया है और अमुक चोरी करने की छूट रखी है। चोरी नहीं करना समाज द्वारा लागू नियम है, चाहे कोई इस नियम को पसंद करे या न करे। अध्यात्म में जैसा भेद अणुव्रत और महाव्रत का है, वैसा भेद कानून में नहीं होता कि अमुक व्यक्ति कानून का अंशतः पालन करेगा और अमुक व्यक्ति कानून का पूर्णतः पालन करेगा। कानून का पालन सभी को पूर्णतः ही करना होता है।

अध्यात्म के नियम क्योंकि स्वैच्छिक हैं अतः उनकी अनुपालना के लिए व्यक्ति को समझा-बुझाकर प्रेरित तो किया जा सकता है, किंतु लालच देकर या भय दिखाकर उन नियमों की अनुपालना करवाना उचित नहीं। जिनकी अनुपालना अनिवार्य समझी जाती है उसे कानूनी रूप देना ही उचित होता है।

● अध्यात्म का मूल सिद्धांत है कि व्यक्ति अपने सुख-दुख का निर्माण स्वयं करता है—'अप्पा कत्ता विकत्ता य सुहाण य दुहाण य'। इस सिद्धांत के अनुसार मैं किसी का उपकार करूंगा या कोई मेरा उपकार करेगा यह धारणा पारमार्थिक नहीं है। एक व्यक्ति दूसरे का निमित्त तो बन सकता है, किंतु उपादान वह स्वयं ही होता है। जब हम यह कहते हैं कि किसी ने मेरा उपकार किया अथवा मैंने किसी का उपकार किया तो यह कथन निमित्त की अपेक्षा से कहा गया होने के कारण व्यावहारिक ही है, पारमार्थिक नहीं। कसाई पशु का वध करता है, पर अध्यात्म में अहिंसा का फल इसमें है कि कसाई के मन से क्रूरता का भाव समाप्त हो। पशु मरने से बचता है, यह उसका आनुषंगिक फल है।

सामाजिक नियम व्यवस्था को बनाए रखने के लिए होते हैं। व्यवस्था में स्व और पर दोनों की समष्टि महत्त्वपूर्ण है, केवल स्व नहीं। समाज व्यवहार पर खड़ा है, परमार्थ पर नहीं। व्यवस्था व्यवहार का विषय है, उसमें निमित्त को गौण नहीं माना जा सकता।

● समाज का निर्माण मनुष्य ने किया है। मनुष्य ही समाज के घटक हैं। इसलिए सारा सामाजिक चिंतन मनुष्य के इर्द-गिर्द घूमता है। मनुष्येतर प्राणियों की यदि समाज में चिंता होती है, तो इसलिए कि वे प्राणी मनुष्य के लिए उपयोगी हैं।

अध्यात्म के नियम आत्मा को केंद्र में रखते हैं, मनुष्य को नहीं। मनुष्य भी अध्यात्म की दृष्टि में यदि विशिष्ट है तो इसलिए कि आत्मा की जैसी उपासना मनुष्य कर सकता है वैसी दूसरे प्राणी नहीं। इसलिए संयमी मनुष्य तो विशिष्ट हैं, जिन्हें देवता भी नमस्कार करते हैं, किंतु शेष सभी प्राणी समान हैं। उनमें से किसी एक के हित के लिए किसी दूसरे के हित का बलिदान नहीं किया जा सकता, किंतु सांसारिक व्यवहार 'जीवो जीवस्य भोजनम्' के आधार पर ही चलता है। इसलिए वहां पूर्ण अहिंसा संभव नहीं है।

■ सामाजिकता का लक्ष्य ऐसी व्यवस्था देना है जिसमें सभी अधिक से अधिक सुविधा प्राप्त करते हुए अपना जीवनयापन कर सकें। निश्चय ही इसके लिए कुछ कर्तव्य निर्धारित किए जाते रहे हैं। उदाहरणतः वृद्धों की सेवा होनी चाहिए, विकलांगों को अतिरिक्त सहायता मिलनी चाहिए, किसी के साथ अन्याय नहीं होना चाहिए, आदि।

अध्यात्म जीवन का उद्देश्य सुख-सुविधाएं जुटाना न मानकर आत्मा को निर्मल बनाना मानता है। इसलिए अध्यात्म सुख-सुविधाओं पर बल न देकर तपस्या पर, साधना पर बल देता है। इसीलिए श्रेयस और प्रेयस को परस्पर विरोधी माना गया है, 'श्रेयश्च प्रेयश्च विपरीतमेतौ'।

■ व्यवस्था का संबंध समूह से है। यदि कोई एक व्यक्ति व्यवस्था में विघ्न डालता है तो उसे व्यवस्था के हित में बल-प्रयोगपूर्वक दंडित भी करना होता है। यह सामाजिक दायित्व है।

अध्यात्म का क्षेत्र मुख्यतः व्यक्तिगत है। अध्यात्म-साधना में यदि कोई उपसर्ग उत्पन्न करे तो उसे दंडित नहीं करते, अपितु उस उपसर्ग को समभावपूर्वक सहन करने में ही अपना हित मानते हैं।

उपरोक्त बिंदुओं के आधार पर सामाजिकता और अध्यात्म के बीच भेद स्पष्ट हो जाता है। किंतु भेद के पीछे अभेद भी छिपा रहता है। इस अभेद पक्ष का दर्शन हम अध्यात्म की संघ-व्यवस्था में देख सकते हैं—

■ संघ का संविधान समय-समय पर बदलता रहता है। वह शाश्वत नहीं है। इसका कारण यह है कि संघ सामूहिक साधना का माध्यम है और जहां सामूहिकता का प्रश्न है वहां अध्यात्म में भी सामाजिकता की छाया आ ही जाती है। इन संघीय नियमों का निर्माण संघ के सदस्य परस्पर विचार-विनिमय द्वारा करते हैं।

■ साधु-संघ के नियम भी समय के साथ बदलते रहे हैं। शुद्ध अध्यात्म का संबंध जिन नियमों से है वे मौलिक हैं। किंतु व्यवहार में उनका विनियोग किस प्रकार किया जाए यह देश, काल, परिस्थिति के अनुसार बदलता रहता है।

■ ज्यों-ज्यों हमारी समझ बढ़ती है, अनेक ऐसे नियम, जिनका संबंध पहले अध्यात्म से था, बाद में कानून बन जाते हैं। उदाहरणतः पेड़ों का काटना एक समय में केवल अध्यात्म से जुड़ा था। पर्यावरण की चेतना जागृत होने पर यह कानून के द्वारा भी अपराध घोषित कर दिया गया।

■ उपादान और निमित्त दोनों एक-दूसरे के परिपूरक हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने गरीबी और अमीरी जैसे महत्त्वपूर्ण विषय को व्यवस्थाजन्य निमित्तों के द्वारा उत्पन्न माना, कर्मजन्य नहीं, और इस प्रकार उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि सामाजिक मुद्दों में निमित्त की भी मुख्यता होती है। सापेक्षता का तकाजा है कि उपादान और निमित्त को अपने-अपने स्थान पर महत्त्व दें। इन दोनों में से किसी की उपेक्षा न करें।

■ पर्यावरण के संदर्भ में हमें जैसे-जैसे यह समझ में आ रहा है कि सभी प्राणी और वनस्पतियां मिलकर पर्यावरण की रक्षा करते हैं, वैसे-वैसे सामाजिक दृष्टि भी अध्यात्म की आत्मपरक दृष्टि के नजदीक आती जा रही है।

■ अध्यात्म में व्यवस्था अपेक्षित नहीं है। यह एकांतिक दृष्टिकोण है। संघ का निर्माण इसीलिए हुआ कि साधक को अनुकूल व्यवस्था प्राप्त हो सके।

■ अध्यात्म और सामाजिकता एक अर्थ में दोनों परस्पर सहायक हैं। कानून की पकड़ में वाचिक तथा कायिक क्रिया ही आती है। किंतु वाचिक और कायिक क्रिया का मूल मन में है। मानसिक क्रिया अध्यात्म की पकड़ में आती है। इस प्रकार अध्यात्म सामाजिकता में सहायक बनता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने 'भिक्षु विचार दर्शन' और 'अहिंसा तत्त्व दर्शन' जैसी कृतियों में आचार्य भिक्षु की जीवन दृष्टि को स्पष्ट किया है। आचार्य भिक्षु के जीवन-दर्शन पर मुख्यतः अध्यात्म की दृष्टि से विचार हुआ है। इस कारण यत्किंचित यह भ्रम हो जाता है कि उनका जीवन-दर्शन सामाजिक सहयोग का विरोधी है। एक महाव्रती होने के नाते आचार्य भिक्षु ने अपनी मर्यादा में रहकर आध्यात्मिक विचार को ही मुख्यता दी, यह सत्य है। किंतु उनकी दृष्टि के मर्म तक जाएं तो कुछ फलित इस प्रकार होंगे—

❑ लौकिक कार्यों के औचित्य-अनौचित्य का विचार तत्-तत् विभाग के नियमों के आधार पर करना चाहिए। जिस प्रकार अध्यात्म के क्षेत्र में आगम की आज्ञा का उल्लंघन अवांछनीय है, उसी प्रकार सामाजिक संस्थाओं के क्षेत्र में

तत्-तत् संस्थाओं के नियमों का उल्लंघन अवांछनीय है। यह समझ लेने पर समाज की व्यवस्था में किसी प्रकार की असंगति नहीं आएगी।

❑ सामाजिक प्राणी के जीवन के दो पक्ष हैं—व्रत और अव्रत। अपरिग्रह व्रत है, धनोपार्जन अव्रत है। किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि एक गृहस्थ क्योंकि धनोपार्जन करने की छूट रखता है, इसलिए वह किसी भी प्रकार के साधनों से धनोपार्जन कर सकता है। धनोपार्जन करने में उस देश के कानून का पालन तो करना ही है, साथ ही शोषण जैसी क्रूरता से भी बचना है।

❑ अध्यात्म के नियम शास्त्र से जुड़े हैं। एक ही राष्ट्र अथवा समाज के व्यक्ति भिन्न-भिन्न शास्त्रों में आस्था रख सकते हैं। इसके लिए उन्हें धार्मिक स्वतंत्रता है। सामाजिक नियम पूरे समाज के लिए बनते हैं, किसी एक संप्रदाय विशेष के व्यक्तियों के लिए नहीं। अतः सामाजिक नियमों को धर्म से नहीं जोड़ा जा सकता। जिन मजहबी राज्यों में ऐसा किया जाता है वहां अल्पसंख्यक समुदाय के लोग धार्मिक स्वतंत्रता का उपयोग नहीं कर सकते।

गंभीरता से विचार करें तो आचार्य भिक्षु की दृष्टि सामाजिक व्यवस्था में बाधक न होकर साधक ही है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी को यह श्रेय जाता है कि उन्होंने आचार्य भिक्षु की अध्यात्मप्रधान दृष्टि को सुरक्षित रखते हुए भी उसके सामाजिक पक्ष को अच्छी प्रकार रेखांकित किया है जो कि वर्तमान युग की मांग भी है। ❖

आज संस्कृति और जीवन—दोनों में एक ध्रुवण चल रहा है। वह यह है कि गांवों में शहरी संस्कृति प्रवेश कर रही है। औद्योगिक प्रगति और शहरी संस्कृति, दोनों का दायरा विस्तृत होता जा रहा है। फलतः गांवों का मन बदल रहा है। उनके संस्कार बदल रहे हैं। जहां तक गांवों के शहरीकरण का प्रश्न है एक हद विशेष तक मैं इसे शुभ का आरोहण मानता हूं। गांव कूड़े-कचरे और अज्ञान के ढेर बन गए हैं। गंदगी, असभ्यता और अज्ञान को सनातन के ठेकेदारों ने धर्म और संस्कृति कहकर शताब्दियों तक बेचा है। अतः कुसंस्कारों और विकृतियों को यदि हम शहरीकरण के माध्यम से दूर कर दें, तो यह शुभ है। परंतु इस प्रक्रिया में कुछ प्राणवान तत्त्व भी नष्ट हो रहे हैं, ग्रामों की रागात्मक संस्कृति, इनके गीत-नृत्य, इनके उल्लास और भ्रातृत्व के साधन। नई नगर-संस्कृति में सबसे बड़ा दोष यह है कि उसमें वह स्थायित्व या अंतर्बल नहीं, जो ग्राम-जीवन को समेटकर एक में बांधे रहे और उसे टिकाऊपन दे सके। नई नगर-संस्कृति प्रगतिशील है अर्थात् निरंतर काल के दबाव में पड़कर परिवर्तित होती रहती है। ग्रामों के माध्यम में ही हम हिंदुस्तान के व्यक्तित्व की, उसकी निजी सनातन अस्मिता की रक्षा कर सकते हैं। और यदि हिंदुस्तानी मन को जिंदा रखना है तो लोक-संस्कृति के उन प्राणवान साधनों को बचाए रखना होगा तथा उन्हें नए-नए संस्कार देकर निरंतर युगानुरूप करते रहना होगा।

नगर-संस्कृति में भी कला-साहित्य और नृत्यगीत हैं। उनका अपना निजी महत्त्व है। वे हिंदुस्तानी अस्मिता के अभिजात अंश से उत्पन्न होते हैं और उनमें भी बहुत-कुछ उदात्त, स्थाई और सनातन है। परंतु जहां तक गांवों पर आरोपित नगर-संस्कृति का संबंध है, यह नागरिक सांस्कृतिक साधना बिल्कुल ही सहायक नहीं हो सकती। यह महनीय है, अभिजात है, अतः यह लोक-सम्मत नहीं हो सकती। गांवों के शहरीकरण के फलस्वरूप धोबी-नृत्य या कहरवा नाच तो मर जाएगा। उसकी जगह 'कथक' या 'भरतनाट्यम्' आता तो कोई बात नहीं थी। परंतु 'कथक' या 'भरतनाट्यम्' लोक-संयुक्त कलाएं नहीं। यहां ये बिल्कुल सहायक नहीं हो सकतीं। धोबी-नृत्य और कहरवा नाच के नष्ट होने से जो रिक्तता या शून्य स्थान पैदा हो गया, वह शून्य ही रह जाएगा। यदि काटकर दूसरे पेड़ की कलम लगे तो ठीक है, परंतु जहां कलम लगाने की गुंजाइश ही न हो, वहां डाल काटना निरंकुश हत्या—रक्तपात के ही समकक्ष है।

—कुबेरनाथ राय

अनुभूति

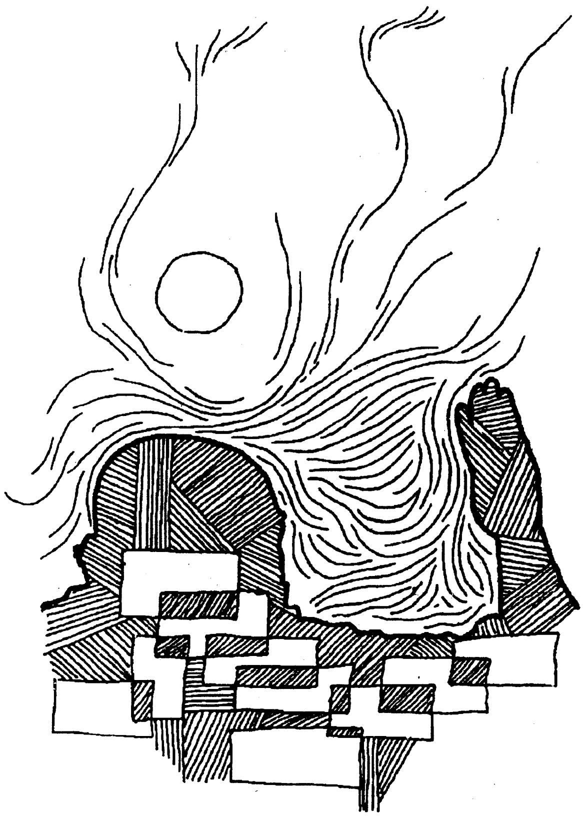

एकाएक उस मठवासी भिक्षु की बात याद आई जिसने साधना के लिए अपने को एकांत कोठरी में बंद कर लिया था; लेकिन एक दिन एकाएक मानो जाग कर, अपने अकेलेपन को पहचान कर और अपने आप से डर कर अपनी कोठरी से सुरंग खोदना आरंभ कर दिया था। सारा जीवन सुरंग खोदते-खोदते जब अंत में एक दिन उसे खुली-सी जगह मिलती जान पड़ी और वह उसमें से सिर डाल कर ऊपर उठा—तो पहुंचा केवल उसी मठ की एक दूसरी एकांत गुफा में जो कि उसी प्रकार बंद थी जिस प्रकार उसकी अपनी कोठरी! अंतर इतना ही था कि इस दूसरी कोठरी में एक पुराना लोटा और एक गठरी भी पड़ी हुई थी—किसी दूसरे साधक की, जो उस एकांत में मर गया था...

क्या इतनी ही है पुरुषार्थ की उपलब्धि—एक अकेली गुफा से बढ़ कर एक दूसरी गुफा तक पहुंचना जिस के अकेलेपन को एक ठठरी दोहरा रही है?

—अज्ञेय

मैत्री : दृष्टि का रूपांतरण

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ ❑

आराधना का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—मैत्री का विकास। मैत्री के विकास के लिए शक्ति का विकास और शक्ति के विकास के लिए सहिष्णुता का विकास, निर्मलता का विकास। जब ये सब विकास हमारी चेतना में घटित होते हैं तब दृष्टि का रूपांतरण होता है।

भगवान महावीर ने मैत्री का बहुत बड़ा सूत्र दिया है, साथ ही इससे आगे की बात भी कही है कि किसी को शत्रु मानो ही मत। पहले शत्रु मानें और फिर मैत्री करें, इससे तो अच्छा है कि किसी को शत्रु मानें ही नहीं।

कुछ व्यक्तियों ने लिंकन से कहा, आपके शत्रु बहुत हैं और अभी आप सत्ता में भी हैं, उनको समाप्त क्यों नहीं कर देते? लिंकन ने कहा, 'उन्हें समाप्त कर रहा हूं।' लोगों ने कहा, अभी तक किसी को जेल में नहीं डाला, फांसी नहीं दी, देश से नहीं निकाला, फिर कैसे समाप्त कर रहे हैं? लिंकन बोले—'शिष्ट व्यवहार से सबको जीत रहा हूं। कुछ ही समय में वे मेरे मित्र बन जाएंगे। फिर कोई शत्रु नहीं रहेगा। सब शत्रु समाप्त हो जाएंगे।'

यह मैत्री का महान सूत्र है। इसके समक्ष शत्रु कोई रहता ही नहीं। मैत्री की भावना जागने पर अनेक समस्याएं समाधित हो जाती हैं। प्रतिदिन हमारे मन पर अनेक मैल जमा होते जा रहे हैं। उनमें सबसे क्लिष्ट मैल है शत्रुता का, द्वेष का। इस दुनिया का यह अटल नियम है कि आदमी जैसा चाहता है वैसा होता नहीं है। इस संसार में रुचि और चिंतन का भेद है, व्यवहार और व्यवस्था का भेद है, रहन-सहन और खान-पान का भेद है, रीति-रिवाजों का भेद है—ये सब भेद न रहें, यह कभी संभव नहीं है। रुचि की भिन्नता है तब भेद समाप्त नहीं हो सकते। इन भेदों के कारण हमारे मन में शत्रुता और द्वेष का भाव पनपता है, यह अवांछनीय है। भगवान ने कहा, दूसरे के साथ बुरा व्यवहार करने में यह देखो कि तुम्हारा स्वयं का अहित हो रहा है। दूसरे का अहित हो या नहीं, यह निश्चित नहीं है, किंतु तुम्हारा अहित निश्चित है, उसमें कोई विकल्प नहीं है। दूसरे के प्रति तुम्हारे मन में बुरा विचार आया, चाहे उसका पता किसी को न लगे, पर उसका अंकन तुम्हारे मस्तिष्कीय कोशों में हो जाएगा। उसका बुरा परिणाम तुम्हें अवश्य ही भोगना पड़ेगा। दूसरे का अनिष्ट करने में स्वयं का अनिष्ट है—जो इस सूत्र को पकड़ लेता है, वह कभी दूसरे का अनिष्ट नहीं कर सकता। 'मैं दूसरे का अनिष्ट कर रहा हूं'—यह सोचना मूर्च्छा है। वह नहीं जानता कि पर्दे के पीछे क्या हो रहा है? भीतर क्या हो रहा है? जिसके मन में मैत्री की भावना का जागरण हो जाता है वह कभी किसी का अहित नहीं कर सकता।

सबके प्रति आत्मीय या पारिवारिक भावना होने पर मन प्रफुल्ल रहता है। उसे किसी से भी भय नहीं होता। शत्रुता और भय, मैत्री और अभय—ये दो युगल हैं। जिसका मन भय से भरा होता है, वही दूसरे को शत्रु मानता है। जिसके मन में कोई भय नहीं होता, वह अनिष्ट करने वाले को अज्ञानी मान सकता है, किंतु शत्रु नहीं मानता। सब जीवों के हित-चिंतन का बार-बार अभ्यास करने में मैत्री का संस्कार पुष्ट होता है।

मनुष्य के ज्ञात संबंधों की कड़ी बहुत छोटी है और अज्ञात की शृंखला बहुत प्रलंब है। ज्ञात स्पष्ट है और अज्ञात अस्पष्ट। इसलिए शत्रु, मित्र आदि की कल्पनाएं खड़ी होती हैं। अज्ञात सामने आ जाए तो ये भाव स्वतः शांत हो सकते हैं। जन्म-मृत्यु की लंबी परंपरा से कौन अपरिचित है। किंतु इसे साधारण लोग नहीं समझते। साधक आत्म-तुला के पथ पर अग्रसर होता है; उसे यह स्पष्ट हो जाए तो बहुत अच्छा है, किंतु बहुत कम व्यक्तियों को अतीत ज्ञात होता है। लेकिन इतना स्पष्ट है कि मैं पहले भी था, अब भी हूं और आगे भी रहूंगा। अतीत में था तो कहां था, कौन मेरे संबंधी थे, आदि प्रश्न स्वतः खड़े हो जाते हैं। इस दृष्टि से साधक का मन सबके प्रति मित्रभाव धारण कर लेता है। 'मित्ति मे सव्वभूएसु वेरं मज्झ न केणई'—मेरा सबके साथ मैत्री-भाव है। कोई मेरा शत्रु नहीं है। आंतरिक चेतना से जैसे-जैसे यह भाव पुष्ट होता जाता है, वैसे-वैसे साधक के मन में शत्रुता का भाव नष्ट होता चला जाता है। मित्र-मन सर्वत्र प्रसन्न रहता है और

अमित्र-मन अप्रसन्न। शत्रु-मन अशांत, हिंसक, घृणायुक्त और क्लिष्ट रहता है। उसमें प्रतिशोध की आग निरंतर प्रज्वलित रहती है। मित्र-मन में ये सब दोष नष्ट हो जाते हैं।

मैत्री-भावना का साधक स्वयं अपने को कष्ट में डाल सकता है, किंतु दूसरों को कष्ट नहीं देता। उसकी दृष्टि में पर-शत्रु जैसा कोई रहता ही नहीं। शत्रु का भाव ही अनिष्ट करता है। खलीफा अली अपने शत्रु के साथ वर्षों लड़ता रहा। एक दिन शत्रु हाथ में आ गया। उसकी छाती पर बैठ भाला मारने वाला ही था, इतने में शत्रु ने मुंह पर थूक दिया। अली को एक क्षण गुस्सा आया, पर तत्क्षण बोला—'आज नहीं लड़ेंगे।' लोगों ने कहा, 'कैसी मूर्खता कर रहे हैं? वर्षों से शत्रु हाथ आया और आप छोड़ रहे हैं।' अली ने कहा—'कुरान का वचन है—क्रोध में मत लड़ो। मुझे गुस्सा आ गया।' शत्रु को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—'इतने वर्षों क्या आप बिना क्रोध के लड़ रहे थे?' अली ने उत्तर दिया—'हां।' शत्रु चरणों में गिर पड़ा। उसे पता ही आज चला कि बिना क्रोध के भी लड़ा जा सकता है। वह मित्र हो गया। लड़ने का हेतु भिन्न हो सकता है, किंतु क्रोध में नहीं लड़ना—यह मित्रता का परिचायक है। मैत्री भाव का विराट् रूप जब सामने आता है तब द्वैत नहीं रहता। 'आयतुले पयासु'—प्राणियों को अपने समान देखो—यह उसका फलितार्थ है।

स्वयं सत्य खोजें : सबके साथ मैत्री करें

हमें सत्य को जानना है और अपने आपको बदलना है कि हमारा शत्रुता का भाव सर्वथा नष्ट हो जाए। हमारे मन में शत्रुता का भाव रहे ही नहीं। हम आदमी को शत्रु मान लेते हैं। अपना प्रमाद, अपना दोष दूसरे के सिर पर आरोपित कर देते हैं कि उसने मेरा अनिष्ट किया है, उसने मेरा ऐसा कर दिया। कोई भी आदमी यह देखने को तैयार नहीं है कि उसने मेरा कुछ किया है। सारा-का-सारा दोष हम दूसरों के सिर मंढ़ देते हैं—'पत्थर कितने ऊबड़-खाबड़ हैं, मुझे ठोकर लग गई।' अपनी गलती से, अपने प्रमाद से ठोकर लगी, इस बात को हम स्वीकार नहीं करेंगे, किंतु कहेंगे कि पत्थर ठीक स्थान पर नहीं थे, इसलिए ठोकर लगी। दरवाजा छोटा है, इसलिए सिर में चोट लगी; किंतु मैंने दरवाजे को छोटा समझकर भी अपने को छोटा नहीं किया, सिकोड़ा नहीं, इसलिए चोट लगी, ऐसा कोई नहीं सोचता। हम सारा दोषारोपण दूसरों पर करते हैं। दूसरों में दोष देखते हैं और दूसरों को दोषी मानकर अपने आपको बचा लेते हैं; परंतु जिसने सत्य को खोजा है, जो सत्य का खोजी है, वह दूसरों पर आरोप नहीं लगाता। वह इस बात का अनुभव करता है कि उसका अपना ही प्रमाद बहुत सारी विकृतियां उत्पन्न कर रहा है।

शत्रुता का इतना ही अर्थ नहीं है कि दूसरे से द्वेष रहे और मित्रता का अर्थ इतना ही नहीं है कि दूसरे से प्रेम रहे। शत्रुता का अर्थ है—अपने कर्तव्य को भुलाकर दूसरे के कर्तव्य में बुराइयां देखना। यह शत्रुता है एक प्रकार की। पत्थर के प्रति भी हमारी शत्रुता हो जाती है। हम पत्थर को भी गालियां देने लग जाते हैं। पूरा बर्तन पानी से भरा था। एक हाथ से उसे उठाया, वह फूट गया। अब इस सचाई को नहीं खोजा कि पानी से भरा हुआ पात्र एक हाथ से उठाया जाएगा तो छूटेगा और फूटेगा ही। इसको हम नहीं सोचेंगे। हम कहेंगे—पात्र इतना कच्चा था कि नहीं फूटता तो और क्या होता? यह परिणाम तो अवश्यंभावी था। इस प्रकार अपने कर्तव्य को बचाने की जो बात है वह भी एक प्रकार से दूसरों के प्रति शत्रुता है। दूसरी वस्तु चाहे सजीव हो या निर्जीव, मित्रता का अर्थ केवल प्रेम ही नहीं है। प्रेम भी मित्रता है, किंतु वास्तव में मित्रता है—सबके अस्तित्व को स्वीकार करना, जो जैसा है उसे उसी रूप में स्वीकार करना—यह है मित्रता। यह अनाशातना है। जैन साहित्य का महत्त्वपूर्ण शब्द है 'आशातना।' जीव की आशातना होती है। अजीव की आशातना होती है। मकान की आशातना होती है। आशातना द्वेष है, शत्रुता है। अनाशातना मैत्री है। हमारा यह व्यापक दृष्टिकोण है कि हम सत्य को खोजें और सबके साथ मैत्री करें अर्थात् जो जिसका जितना है उसे सहज भाव से स्वीकार करें और किसी पर कुछ आरोपित न करें।

मैत्री का मनोवैज्ञानिक प्रभाव

मानवीय संबंधों की दूसरी कठिनाई है—कठोरता। आदमी अपने से छोटे व्यक्ति के साथ मृदु व्यवहार नहीं करता। अपने से बड़े व्यक्ति के साथ उसे मृदु व्यवहार करना पड़ता है, अन्यथा उसे स्वयं को कठिनाई भोगनी पड़ती है। छोटे के साथ मृदु व्यवहार करने पर बड़े का बड़प्पन भी कैसे सुरक्षित रह सकता है? यह धारणा रूढ़ हो गई है। एक मालिक अपने नौकर के साथ मृदु व्यवहार करने में कठिनाई का अनुभव करता है, किंतु बराबर के साथी के साथ वह विनम्र और मृदु व्यवहार करने में गौरव अनुभव करता है। नौकर के साथ मृदु व्यवहार कैसे किया जाए? उसको तो दो-चार गालियां ही दी जानी चाहिए। एक मिल मैनेजर यदि मजदूरों के साथ मृदु व्यवहार करता है तो भला मिल कैसे चल सकेगी? इस प्रकार की धारणाओं ने सामाजिक और मानवीय संबंधों में बहुत बड़ी दरार पैदा कर दी। हम इस बात को भूल गए कि मैत्री और प्रेमपूर्ण भावनाओं के द्वारा, निर्मल और पवित्र भावनाओं के द्वारा आदमी को जितना जगाया जा सकता है, जितना प्रेरित किया जा सकता है, उतना कठोर

व्यवहार से नहीं किया जा सकता। आज वैज्ञानिक खोजों के द्वारा नई सचाइयां सामने आई हैं कि पवित्र और सद्भावनापूर्ण भावनाओं के द्वारा पौधों को विकसित किया जा सकता है। खेती को बढ़ाया जा सकता है। फूल को और अधिक विकसित किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में पूर्ण चेतनाशील व्यक्ति को निर्मल और सद्भावनापूर्ण चेतना के द्वारा क्या विकसित नहीं किया जा सकता? क्या वह निरा पत्थर है? पत्थर को भी पवित्र भावनाओं से चैतन्य जैसा किया जा सकता है। जब बड़ी चट्टान को उठाना होता है तब पांच-सात आदमी उस चट्टान के प्रति समर्पित होकर संकल्पशक्ति के सहारे उसे उठा देते हैं।

विनम्रता, मृदुता हर किसी को पिघला देती है। हम किसी के प्रति सद्भावना करें, प्रेमपूर्ण भावना करें, वह पिघल जाता है। गाय अधिक दूध देने लग जाती है, वृक्ष अधिक फल-फूल देने लग जाते हैं और लताएं अपनी दिशा बदल देती हैं। एक ईसाई महिला ने एक प्रयोग किया। उसने कुछ पौधे लगाए, किंतु एक लता उन पर छा जाती, उन पौधों को ढंक देती। पौधों को पनपने का मौका ही नहीं मिलता। एक दिन महिला उस लता के पास गई और विनम्र स्वर में बोली—'लता! मुझे दुख है कि तुझे काटना पड़ेगा। मुझे खेद है! तू मुझे क्षमा करना।' उस महिला ने पौधे पर छा जाने वाली लता के भाग को काट डाला। फिर लता को सुझाव दिया कि तुम अमुक दिशा में बढ़ती जाओ। कुछ दिनों बाद देखा कि उस लता ने अपना मार्ग बदल डाला और दूसरी दिशा में बढ़ना प्रारंभ कर दिया। जब लता भी विनम्र बात सुन लेती है, पौधा भी सुन लेता है, तब आदमी हमारी भावना क्यों नहीं सुनेगा? हमारी मृदुता को वह न समझे, यह कैसे हो सकता है? किंतु हमने यह रूढ़ धारणा बना ली है कि आदमी पर मृदुता से शासन नहीं किया जा सकता। इस धारणा से मानवीय संबंधों में कटुता आई है। एक आदमी दूसरे आदमी को शत्रु या पराया मानता चला जा रहा है।

सरस जीवन की प्रक्रिया—मृदुता

जीवन की सफलता का सूत्र है—सरसता। मृदु व्यवहार जीवन की सरसता का सूचक है। जिसका व्यवहार कठोर होता है, उसका जीवन सरस नहीं हो सकता। वह स्वयं भी सरस नहीं हो सकता और दूसरों में भी सरसता नहीं भर सकता। जिसका व्यवहार मृदु होता है वह स्वयं सरस होता है और दूसरों में भी सरसता भरता है।

आचार्य भिक्षु के समय की बात है। मुनि भिक्षा लेकर आए। भिक्षा दिखाई। एक पात्र में चने की दाल और मूंग की दाल मिश्रित थी। आचार्य भिक्षु ने मुनि से कहा, 'दोनों दालों को मिलाकर क्यों लाए? अलग-अलग पात्र में लाना चाहिए।' मुनि ने सहज भाव से उत्तर दिया, 'दाल दाल होती है। क्या अंतर आता है, साथ ले आया।' आचार्य भिक्षु ने कहा, 'चने की दाल बीमार को नहीं दी जा सकती। मूंग की दाल बीमार को दी जा सकती है। तुमने गलती की है।' आचार्य भिक्षु ने उलाहना दिया।

मुनि को बात खटक गई। वे भोजन न कर सो गए। आचार्य भिक्षु भोजन मंडली में बैठे। साधु को उपस्थित न देखकर पूछताछ की। पता चला कि वे सो रहे हैं। भिक्षु व्यवहार-पटु थे। मनोवैज्ञानिक थे। उन्होंने मुनि के मन को पढ़ा और जोर से पुकारा, 'अरे! सोते-सोते दोष मेरा देख रहे हो या अपना?' इतना सुनते ही मुनि का गुस्सा शांत हो गया। वे उठे, बाहर आए, आचार्य भिक्षु की वंदना कर बोले, 'दोष तो अपना ही देख रहा था।' बस, सारा वातावरण सजीव हो गया।

आचार्य भिक्षु के शब्दों ने उसमें सरसता भर दी। मुनि सरसता से अभिभूत हो गए। सरसता वही भर सकता है जिसके जीवन-व्यवहार में सरसता हो। रसहीन व्यक्ति का व्यवहार मृदु नहीं हो सकता। वह कभी दूसरों को सरस नहीं बना सकता। मैत्री सरसता का घटक है।

मैत्री की आराधना : शक्ति की आराधना

शक्ति के बिना मैत्री नहीं हो सकती। मैत्री की आराधना का अर्थ है—शक्ति की आराधना। सहिष्णुता एक शक्ति है। शक्ति की जब तक उपासना नहीं होती, मैत्री का भाव स्थाई नहीं हो सकता। दूसरी बात है, शक्ति के बिना कलुषता का निरसन भी नहीं हो सकता। कमजोर आदमी दिन में सौ बार मैत्री का संकल्प करता है और शत्रुता के भाव को मन से निकाल देता है। फिर परिस्थिति आती है और उसके चित्त पर शत्रुता का भाव छा जाता है। यह चित्त का आकाश कभी निर्मल नहीं होता। उसको निर्मल करने के लिए सहिष्णुता की शक्ति चाहिए, निर्मलता की शक्ति चाहिए।

खमतखामणा का वास्तविक अर्थ

खमतखामणा आराधना का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। उसका तात्पर्य है कि किसी भी व्यक्ति के प्रति तुम्हारे मन में असहिष्णुता का भाव आ जाए, कलुषता का भाव जाग जाए, उसे ज्ञात हो या नहीं, वह जाने या न जाने, किंतु तुम अपनी ओर से क्षमा मांग लो, सहन कर लो। अपनी मैत्री को मत

शेष पृष्ठ 39 पर

अभिलेख : पर्युषण पर्व 1957

गांठें खोलें

❑ आचार्यश्री तुलसी ❑

जो हमारे मित्र हैं अथवा जिनसे हमारा कोई वास्ता नहीं, उन्हें क्षमा करना व उनसे क्षमा लेना बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात वह है जिनसे हमारे संबंध कटु हो गए हों, जिन्हें हम शत्रु मान बैठे हों, उन्हें क्षमा देना और लेना।

कल रात को प्रतिक्रमण किया। एक मुहूर्त लगा होगा। दूसरे मुहूर्त में 'खमतखामणा' किए, क्षमा दी और ली। व्यवहार पूरा हुआ। यह सारा कार्य सीमित था। यह क्षमा का आदान-प्रदान उन्हीं से हुआ जो मेरे सामने थे। किंतु इतने से भी मैंने स्वयं को भार-मुक्त पाया।

अब मूक 'खमतखामणा' शुरू हुई। स्मृति का प्रस्थान हुआ। जो साधु-साध्वियां सामने नहीं, उन्हें याद किया। श्रावक-श्राविकाओं तथा जिन्हें मैं जानता हूं, उन्हें याद किया, जिनसे साक्षात् परिचित नहीं हूं, उन्हें भी नहीं भूला, वर्षभर के मृदु-कटु व्यवहारों को याद किया—मैं ससीम से असीम की ओर चल पड़ा। जान-अनजान में हुई अपनी भूलों के लिए मैंने सबसे क्षमा मांगी और उनकी भूलों को भुलाया। मेरा हृदय सीमा-भेद से मुक्त था।

भगवान ने कहा—'आय तुले पयासु' अर्थात् सबको आत्म-तुल्य समझो। आगे कहा—'अत्तसमे मनिज्ज छप्पिकाए'—छवों जीव निकायों को आत्म-तुल्य समझो। पहले में जो अभेद से कहा, वहीं दूसरे में भेद-दृष्टि से कहा है। आत्म-तुला की बात दोनों में समान है। आगे चलकर कहा—'उपसम सारं खु सामण्णं', जीवन का सार है—श्रामण्य और श्रामण्य का सार है—उपशम। इस वाक्यत्रयी में लगता है, भगवान ने त्रिलोकी को समेट लिया। वैदिक पुराणों के अनुसार विष्णु ने और जैन पुराणों के अनुसार विष्णुकुमार ने तीन पैरों में सारे विश्व को समेट लिया—ऐसा कहा जाता है। समता का संसार इस त्रिपदी में समाया हुआ है।

विरोध दो में होता है। लड़ाई, झगड़ा, वैमनस्य आदि-आदि सारे विग्रह दो में होते हैं। क्षमा का संबंध भी दो से है। एक व्यक्ति कलह को शांत करना चाहे, क्षमा लेना-देना चाहे, दूसरा न चाहे तब क्या किया जाए? यह दुविधा है।

भगवान ने तीसरे वाक्य में इसका समाधान दिया है—शिष्य ने पूछा—भगवन! दो साधुओं में अधिकरण—कलह हो गया। एक साधु उसे शांत करना चाहता है, दूसरा नहीं चाहता। एक उसे क्षमा देता है, लेता है; दूसरा उसे न आदर देता है, न बोलता है; तब क्या किया जाए? भगवान ने कहा—दूसरा न बोले, उसकी अपनी इच्छा है; आदर न दे, उसकी अपनी इच्छा है; क्षमा न दे, न ले, उसकी अपनी इच्छा है; किंतु जो क्षमा लेता-देता है वह आराधक होता है। जो क्षमा न लेता, न देता वह विराधक होता है। कारण, यह श्रामण्य उपशम सार है।

इस वाणी का सार इतना ही है कि विरोध दो में भले ही हो, क्षमा एक ओर से भी हो सकती है।

सत्य यह है कि हम अपनी ओर देखना सीखें, अपनी चिंता करना सीखें। हमारा जितना समय दूसरों की चिंता में बीतता है, उसका थोड़ा भाग भी अपनी चिंता में नहीं बीतता। इस वृत्ति को बदले बिना शांति संभव नहीं। सहवास में वैमनस्य संभव है। वैमनस्य आया कि अशांति आई। दोनों साथ-साथ चलते हैं। शांति का साधन सौमनस्य है। सौमनस्य का मार्ग है—हम दूसरों के अपराधों की गांठ बांध न बैठें। उन्हें बड़ी सतर्कता से याद करें। दिल से निकाल फेंकें

और फिर सदा के लिए भूल जाएं। यह स्मृति और क्षमा का मार्ग ही शांति का मार्ग है।

अपराध दूसरों के द्वारा भी हो सकता है, अपने द्वारा भी हो सकता है। ऐसा कौन है जिससे कभी भूल न हो? भूल की विस्मृति के लिए उसकी स्मृति करना अच्छी बात है। उपशम का मंत्र सीखे बिना उसकी कोरी याद खतरनाक होती है। हमारे लिए उपशम जीवनघूंटी है। उसे भला हम कैसे भुलाएं?

जो हमारे मित्र हैं अथवा जिनसे हमारा कोई वास्ता नहीं, उन्हें क्षमा करना व उनसे क्षमा लेना बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात वह है, जिनसे हमारे संबंध कटु हो गए हों, जिन्हें हम शत्रु मान बैठे हों, उन्हें क्षमा देना और लेना। जहां संबंध होता है वहां कटुता भी हो सकती है। कटुता का अंत क्षमा में हो—यही है, 'खमतखामणा' का गूढ़ रहस्य।

क्षमा देने-लेने में पहले-पीछे मत देखो। यह ऐसा कार्य है जो आंख मींच कर किया जा सकता है। बड़े-से-बड़े अपराध को भी सहसा भूल जाओ। उदायन को याद करो। वह चंडप्रद्योत को जीत, बंदी बना, अपनी राजधानी को जा रहा था। बीच में संवत्सरी आ गई। प्रतिक्रमण किया, बड़ों, छोटों, अधिकारियों और कर्मचारियों से, सबसे क्षमा मांगी। सबने क्षमा दी। चंडप्रद्योत से भी मांगी। वह बोल उठा—यह कैसी क्षमा की मांग? बंदी राजा, बंदी बनाने वाले राजा को क्षमा करे? यह नहीं हो सकता। उदायन ने सोचा—ठीक कह रहा है। वह उठा। चंडप्रद्योत के बंधन खोले, गले मिले, क्षमा लेने-देने में सारे विरोध भूल गए। यह बन सकता है किंतु हृदय विशाल होना चाहिए। सामने वाला क्षमा न दे, तब भी अपना हृदय सरल हो तो 'खमतखामणा' हो सकते हैं। किंतु दोनों ओर से हृदय सरल हो जाए उसका फिर कहना ही क्या?

'खमतखामणा' का तत्त्व बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। वह अगम्य हो रहा है। मैत्री की महिमा को बहुत कम लोग समझते हैं। प्रतिकार में जो रस आता है वह मिल कर चलने में नहीं आता—यह कैसा मनोभाव है? थोड़ी-थोड़ी बात पर लोग लड़ पड़ते हैं। सहिष्णुता मानो उठ ही गई हो। मानव-जीवन विरसता में परिणत होता जा रहा है। मैत्री की महिमा प्रकाश पाए—इसकी बहुत बड़ी अपेक्षा है।

अब मैं अपनी बात कहता हूं। चारों संघ सामने हैं। साधु, साध्वियां, श्रावक और श्राविकाएं। मेरा सबसे काम पड़ता है। मैं बहुतों के लिए कभी प्रसन्नता और कभी क्षोभ का हेतु भी बन जाता हूं। किन्हीं की इच्छा पूरी कर पाता हूं और संभव है किन्हीं की नहीं भी कर पाता। और यह संभव भी कैसे हो कि सबकी सारी इच्छाएं पूरी हो जाएं। बहुत सारे लोग दर्शन के लिए आते हैं। मैं कार्य-व्यस्त होता हूं तब उन्हें पूछ भी नहीं पाता। किसी-किसी से महीनों तक बोलने का काम नहीं पड़ता। आजकल आगम-कार्य हो रहा है। व्यस्तता और अधिक है। मैं कभी-कभी वंदना की स्वीकृति भी नहीं कर पाता। मेरी स्वीकृति श्रद्धालुओं के लिए निधि हो सकती है, पर मैं उसे भी भूल जाता हूं। इसके लिए मैं अपने को 'अपराधी' कहूं, तो कह सकता हूं।

पिछले वर्ष संघर्ष की चिनगारियां उछलीं। उस स्थिति में समभाव रखना बहुत कठिन था। स्थिति विशेष में ऊंची-नीची भावना आ सकती है, आई भी है, किंतु उसे बनाए नहीं रखना है। आज हृदय सरल होना चाहिए और है भी। संघर्ष शांत हो गया, सारी स्थिति शांत है। शांति हृदय की सरलता से ही हो सकती है। कुछ साधु संघ से बिछुड़ गए। उनसे भी हमारा विरोध नहीं होना चाहिए। वे अपना काम करते हैं, हम अपना काम करें। विरोध रखना उचित नहीं। किसी को विरोधी मान उसके कार्य में बाधक मत बनो। विरोध अपना दोष है, उससे अपना ही अहित होता है।

मैं आज सबको याद कर रहा हूं। मैंने आचार्य पद के नाते किसे उलाहना दिया, किसे टोका, किसे कुछ कहा, उस सबकी याद हो रही है। सुदूर की स्मृतियां आ रही हैं। दृष्टियां चारों ओर बिखर रही हैं। ऊंची-नीची भावना मिट रही है। मन हल्का हो रहा है। यह कितनी शुभ और आनंद की वेला है।

चातुर्मास के लिए बहुत प्रार्थनाएं थीं। वह यहां हुआ। बीदासर वालों को अप्रिय लगा। यह होता भी है। तीव्र अभिलाषा यदि पूरी नहीं होती तो वहां एक चोट-सी लगती है। उन्हें भी मैं इस अवसर पर याद किए लेता हूं।

दूसरों की ओर देखना बहुत अच्छा नहीं। हित का मार्ग यह है कि अपनी ओर देखा जाए, वैर से दूसरे का अनिष्ट नहीं होता, अपना होता है। यह अध्यात्म-दृष्टि है। अवैर-भाव इसी से लाया जा सकता है। विरोध को समभाव से सुलझाना सीखो। अदालतों के दरवाजे मत खटखटाओ। समझौते से काम लो। क्षमा, समझौता और मैत्री—ये जीवन के महान गुण हैं। मानवता यही है। संवत्सरी जैसे पर्व से विकास का मार्ग खुले, प्रकाश मिले—इसी संबल को साथ ले हम अगले वर्ष में प्रवेश करें। ❖

शिक्षक दिवस

स्कूलें : एलीट क्लास का षड्यंत्र

❑ दयालचन्द्र सोनी ❑

किसी को बुरा लगे तो भले ही लगे, मैं तो ऐसा अनुमान लगाने लगा हूं कि स्कूलों का आविष्कार समाज के निहित स्वार्थी शोषक वर्ग ने अपनी संतानों को शोषण-कला में प्रवीण बनाते हुए शोषण को अपने वर्ग का एकाधिकार बनाए रखने के लिए ही किया होगा। मैं गुरुकुलों की बात नहीं कर रहा हूं; मैं स्कूलों की बात कर रहा हूं जो अंग्रेजों के जमाने में विकसित हुए और आज भी धड़ल्ले से चल रहे हैं।

मेरा जीवन मेरा विद्यालय है और मैं कुछ ही दिनों में कक्षा 75 में चढ़ा दिया जाऊंगा और इस तरह कक्षा 75 का विद्यार्थी बन जाऊंगा। यदि मेरा जीवन बचेगा तो आगामी वर्ष मेरा कक्षा 76 में प्रमोशन निश्चित है; क्योंकि मेरे विद्यालय में कोई भी विद्यार्थी फेल नहीं होता।

(सन् 1993 में लेखक 75 वर्ष के थे। अब 82 वर्ष के हैं—सं.)

शिक्षा में (जैसा कि एक कैनेडियन शिक्षाशास्त्री श्री रॉबी किड ने लिखा है) तीन बातें हैं (1) होना (being) (2) सीखना और बनाना (becoming) और (3) अपनाना (belonging)। शिक्षा में सबसे प्रथम हमारा जीवन होना चाहिए, दूसरी बात यह कि हमें कुछ न कुछ नया सीखते रहना चाहिए और तीसरी बात यह कि हमें स्नेह तथा सहयोग अपनाना चाहिए। तो मैं इन तीनों दृष्टियों से अपनी शिक्षा को जारी रखे हुए हूं। उम्र का बढ़ना स्वयं में ही प्रकृति की शिक्षा व्यवस्था का अंग है। जब एक कन्या शादी करके मां बनती है तो प्रकृति उसे वत्सला बना देती है। उसे जो प्रसवानुभव होता है वह एक प्राकृतिक शिक्षानुभव है। कोई भी स्कूल एक बांझ को वह शिक्षा नहीं दे सकता जो एक मां को प्रसवानुभव से प्राप्त होती है। मैं दादाजी तथा नानाजी बनकर अपने नाती-पोतों से जो शिक्षा ग्रहण कर रहा हूं, वह कोई भी स्कूल मुझे हरगिज भी नहीं दे सकता। अतः स्कूलों, कालेजों को हरगिज भी यह भ्रांति नहीं पाल लेनी चाहिए कि उनके पास शिक्षा की कोई ठेकेदारी या मोनोपॉली है। स्कूल के बाहर जो अनंत तथा अक्षय शिक्षा चल रही है उससे आंखें मूंद लेना ठीक नहीं।

वर्तमान स्कूल-जीवन शिक्षा की दृष्टि से कई खामियों से ग्रस्त है, जैसे स्कूली शिक्षा में जीवन की सर्वांगीण समग्रता का अभाव है। दूसरे, यह शिक्षा कुलीन वर्ग की दासी तथा जन-सामान्य की शत्रु है। तीसरे, यह शिक्षा इस महाभ्रांति को पैदा करती है कि स्कूल के बाहर शिक्षा का अकाल है। इस भ्रांति के कारण लोग स्कूल को जरूरत से ज्यादा और जीवनानुभव को जरूरत से कम महत्त्व दे रहे हैं। यहां हम इन बातों पर थोड़ा विस्तार से विचार करेंगे।

सर्वप्रथम सर्वांगीण समग्रता के अभाव पर ध्यान दिया जाए। हम देखते हैं कि जीवन चतुरंगी है : (1) देह, (2) बुद्धि, (3) भावना और (4) सत्-असत् विवेक। पर हमारे स्कूल इस सर्वांगीण समग्र जीवन का अंग-भंग कर देते हैं। वे पूरे जीवन के तीन बटा चार भाग को (अर्थात् देह, भावना तथा विवेक को) त्याग देते हैं और उसके एक बटा चार भाग को पकड़ लेते हैं अर्थात् केवल बुद्धि को ही शिक्षा का एकमात्र विषय मान लेते हैं। अतः स्कूली शिक्षा में बौद्धिक कौशल तथा बौद्धिक जानकारी को एकांगी तथा कृत्रिम महत्त्व दिया जाता है।

किसी को बुरा लगे तो भले ही लगे, मैं तो ऐसा अनुमान लगाने लगा हूं कि स्कूलों का आविष्कार समाज के निहित स्वार्थी शोषक वर्ग ने अपनी संतानों को शोषण-कला में प्रवीण बनाते हुए शोषण को अपने वर्ग का एकाधिकार बनाए रखने के लिए ही किया होगा। मैं गुरुकुलों की बात नहीं कर रहा हूं; मैं स्कूलों की बात कर रहा हूं जो अंग्रेजों के जमाने में विकसित हुए और आज भी धड़ल्ले से चल रहे हैं।

हमारी आज की शिक्षा की मुख्य विडंबना क्या है? विडंबना यह है कि जनतांत्रिक विधान तथा जनतांत्रिक युग की मांग बन गई है कि शिक्षा सबको मिले। पर शिक्षा यदि शोषण द्वारा आराम का जीवन प्राप्त करने का अरमान है तो शिक्षा सबके लिए एक साथ कैसे हो सकती है? शोषक का जीवन शोषित के जीवित (यानी अस्तित्व में) होने पर ही निर्भर है। शोषितों को मिटाकर शोषक, शोषक नहीं रह सकता। वर्तमान शोषक वर्ग मुंह से ऐसा बोल नहीं सक रहा है कि शिक्षा केवल इसी वर्ग को मिलनी चाहिए। पर वह पीठ पीछे तथा 'इनडायरेक्ट' तरीके से पूरा-पूरा जोर लगा रहा है कि शिक्षा ऐसी बना दी जाए कि शोषित वर्ग उसकी प्राप्ति में 'फेल' होता रहे। इसका उपाय है 'अंग्रेजी भाषा' का वर्चस्व अधिक से अधिक कायम करते जाना। शोर मचाते रहो कि शिक्षा सबकी हो; क्योंकि संविधान तथा युग जनतंत्र का है। ऐसा शोर तो मचाना ही होगा। पर एक काम करो कि सरकार का काम, कंपनियों का काम, नौकरियों का काम अंग्रेजी में ही हो, ताकि स्कूलों को मजबूरन अंग्रेजी माध्यम रखकर शिक्षा देनी पड़े। अब बेचारी शोषित जनता, अंग्रेजी वाले कंपीटीशन में, वर्तमान शोषक वर्ग का मुकाबला त्रिकाल में भी कर नहीं सकेगी और नौकरी के कंपीटीशन में 'डिस्क्वालिफाई' या 'आउट' हो जाएगी।

सियार ने बगुले को 'जीमने' बुलाया और 'सूप' बनाकर परात में परोसा ताकि सियार उसे जीभ से चाटकर चट कर सके और बगुला चोंच द्वारा उसे खा-पी न सके। दूसरी बार में बगुले ने सियार को जीमने बुलाया तो मछलियों का भोजन तैयार करके लंबी संकड़ी गर्दन की सुराही में परोसा ताकि बगुला सारा भोजन चट कर सके और सियार ताकता रहे। इस प्रकार जीमने का निमंत्रण दे देना अलग बात है, परोसे हुए को खाने देना बिल्कुल अलग बात है।

शत प्रतिशत जनता को शिक्षा के जीमण में जीमने की दावत तो देनी ही होगी क्योंकि जनतंत्र की तथा जनतांत्रिक विधान की धारा 45 की मजबूरी है। पर जीमण को जीमने में पुराना शोषक वर्ग ही कामयाब हो, इसकी गारंटी करने का उपाय यह कर लिया गया है कि देश का काम अंग्रेजी में चलाओ ताकि शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी भाषा बना रहे। देश का जनसामान्य (देश के मासेज) जीमण की आशा में आएगा जरूर, पर अंग्रेजी की 'अवरोध दौड़' या हर्डल रेस में फेल होकर अपनी किस्मत को ही कोसेगा, वर्तमान स्कूल या वर्तमान शिक्षा प्रणाली को नहीं।

मैंने ऊपर बताया था कि विद्यालय का पहला अपराध यह है कि समग्रतापूर्ण मानव-जीवन को खंडित करता है। मनुष्य की देह, उसकी भावना तथा उसके विवेक जागरण के पक्षों की उपेक्षा करके उसके बौद्धिक पक्ष का एकांगी विकास करता है। पर उसके बाद मैंने यह बात लिखी है कि यह स्कूल तो एलीट क्लास का एक षड्यंत्र है। जनतांत्रिक विधान यद्यपि आ गया, सबको शिक्षित करने की दुंदुभि यद्यपि बज गई, पर अंग्रेजी भाषा का वर्चस्व इस तरह बनाकर रख दिया गया है कि न तो जनसामान्य अंग्रेजी में प्रवीण हो पाएगा और न ही शिक्षा में कामयाब हो पाएगा। हां, जनसामान्य को निराशा और क्षोभ यानी फ्रस्ट्रेशन की उपलब्धि इस स्कूल प्रणाली से अवश्य ही होगी और हो रही है। पिछले दिनों टी.वी. पर दिखाया गया है कि बाईस रिक्त स्थानों के लिए छह हजार आवेदन पत्र और पांच हजार रिक्त स्थानों के लिए पचास हजार आवेदन प्राप्त हुए हैं। इससे उस फ्रस्ट्रेशन के प्रसार-विस्तार का अनुमान लगाया जा सकता है कि जो स्कूली षड्यंत्र से जनता में फैल रहा है। तो यह हमारी स्कूल पद्धति का दूसरा अपराध है।

पुराने सामंत स्पष्ट बोलते थे कि स्कूल केवल एलीट के काम के हैं, सामान्य जनता के लिए नहीं। तो वे सामंत चाहे विषमता के पोषक रहे हों, पर वे अपने कथन में ईमानदार थे। वे ठगते थे, और मानते थे कि वे ठग हैं। आज का एलीट भी ठग है, पर नाटक ऐसा किया जाता है मानो विषमता को मिटाना चाहता हो।

महात्मा गांधी ने साफ-साफ कहा था कि यदि राष्ट्रीय सार्वजनीन शिक्षा सचमुच इष्ट है तो स्कूल में जीवन की वास्तविकता की, स्कूल में जीवन की कठोर सचाई की, यानी उत्पादक श्रम से उपजने वाले पसीने की पूजा करो तथा कर्म से जोड़ करके, प्रासंगिक ज्ञान दो। साथ ही उन्होंने कहा था कि कम-से-कम आठ वर्ष की अनिवार्य राष्ट्रीय शिक्षा से अंग्रेजी को दूर रखो ताकि शिक्षा में शोषणाभिमुखता समाप्त हो और जीवन की वास्तविकता का प्रत्यक्ष दर्शन तथा अनुभव विद्यार्थी को हो सके।

मुझे सन् 1941 में एक संस्था ने गांधीजी द्वारा प्रतिपादित बुनियादी तालीम का काम सौंपा और जब पंद्रह वर्ष तक खप करके मैंने उस प्रयोग को सफलता दिलाई तो संस्था के एक स्तंभ ने मुझे कहा कि हमने बुनियादी शिक्षा पद्धति को सिद्ध एवं सफल घोषित कराने के लिए उसका प्रयोग शुरू नहीं किया था। हमने तुम्हें उस प्रयोग से हटा दिया है क्योंकि हमें उस प्रयोग को विफल सिद्ध करना है।

मैंने बचपन में, अंग्रेजी राज्य के जमाने में, अपनी पाठ्यपुस्तक में पढ़ा था कि इंग्लैंड के सम्राट जार्ज पंचम की

बाल्यकालीन शिक्षा में उनको जहाज में कोयला झोंकने का श्रम करना पड़ा था और अपने शरीर तथा कपड़ों को काला करना पड़ा था। पर भारत का स्कूल? क्या मजाल जो एलीट लोगों के बच्चों को परिश्रम से सामना करना पड़ जाए? स्कूलों में 'चपरासी-कल्चर' चल रही है। स्कूलों में पूरी सावधानी बरती जाती है कि उत्पादक श्रम सेवा से विद्यार्थी कहीं श्रमिक के प्रति साम्य-भावना विकसित न कर ले! बच्चा तो भेद नहीं करता। बच्चा तो परिश्रम से प्यार करता है। पर हमारी शिक्षा पद्धति बच्चे की प्रकृति पर अन्याय करती है। नर्सरी स्कूल से ही विद्यार्थी को श्रम-विमुख बनाया जाता है। बीस-पच्चीस वर्ष तक विद्यार्थी परोपजीवन (पेरेसाइटिजम) का सतत अभ्यास करता है। फिर कैसे इस शिक्षा के स्नातक कामचोर तथा भ्रष्ट नहीं होंगे? श्रम के प्रति ग्लानि जितनी भारतीय स्कूलों में पैदा की जाती है, मेरे खयाल से उतनी किसी भी अन्य देश के स्कूलों में पैदा नहीं की जाती। भारतीय स्कूलों में जितने चपरासी हैं उतने शायद किसी भी अन्य देश के स्कूलों में नहीं होंगे। 'साहिबी' हमारे स्कूल की संस्कृति में घुली है। 'साहिबी' हमारे स्कूलों का एकमात्र लक्ष्य है। अब क्योंकि 'साहिबी' सार्वजनीन नहीं हो सकती इसलिए हमारी स्कूली शिक्षा का सार्वजनीन होना भी असंभव है, चाहे सारे देश का सरकारी बजट अकेली स्कूली शिक्षा के मद पर ही खर्च कर दिया जाए।

शिक्षा विद्यार्थी का आंतरिक बदलाव तथा विकास है। हमारे पुराने शिक्षकों ने अपने लिए तथा छात्रों के लिए यह प्रार्थना बनाई थी—'मुझे असत् से सत् की तरफ, अंधकार से उजाले की तरफ और मृत्यु से अमृत की तरफ ले जा।' अब यदि मुझसे पूछा जाए कि अस्त क्या है, सत् क्या है, अंधकार क्या है, प्रकाश क्या है, मृत्यु क्या है, अमृत क्या है और इस सत्ता से यह प्रार्थना की गई कि मुझे अमुक से अमुक की तरफ ले जा, तो मैं कहूंगा कि यदि सत् और असत् में, अंधकार और प्रकाश में तथा मृत्यु और अमृत में कोई भेद हमें नहीं लगता, और न हमें इन द्वंद्वों का कोई पता या अनुभव ही है तो शिक्षा की उत्पत्ति ही संभव नहीं है। शिक्षा का महत्त्व जितना मनुष्यों में है उतना अन्य प्राणियों में नहीं। इसका कारण है कि मनुष्य ही वह प्राणी है जो अच्छे तथा बुरे के भेद को मानता है और इन दोनों के बीच भेद के विवेक की शक्ति रखता है। इसी विवेक में से शिक्षा जन्मी है। कौन ऐसा मनुष्य है इस पृथ्वी पर, जो अमुक को सही तथा अच्छा नहीं कहता और अमुक को गलत और बुरा नहीं कहता? अच्छे-बुरे तथा सही-गलत के द्वंद्व से मुक्त मनुष्य कहां है? चाहे हम ईश्वर को मानें चाहे नहीं मानें, चाहे हम अध्यात्म को कुछ समझें या नहीं समझें, चाहे हम आत्मा में विश्वास रखें या न रखें, पर अमुक बात गलत है और अमुक बात सही है, ऐसा निर्णय (चाहे वह निर्णय गलत हो या सही) करने से परहेज करने वाला मनुष्य कौन है?

मेरी अल्प बुद्धि के अनुसार तो मानवों में ही शिक्षा की प्रवृत्ति का होना इसलिए संभव हुआ तथा इसलिए जरूरी हुआ कि क्या अच्छा तथा सही है और क्या बुरा तथा गलत है, यह प्रश्न मनुष्य में जन्मजात है। ज्ञान को स्कूलों ने पैदा नहीं किया। ज्ञान को मानव की प्रश्नात्मक, जिज्ञासात्मक प्रकृति ने पैदा किया। मनुष्य प्रकृति से ही खोजी है, अन्वेषक है। यदि ऐसा नहीं होता तो शिक्षा पैदा ही नहीं होती। स्कूल शिक्षा के खेत नहीं हैं जहां शिक्षा पैदा होती है। स्कूल तो शिक्षा के टुकड़ों के संग्रहालय मात्र हैं। शिक्षा का अंकुरण तथा विकास जीवन में स्वतः हुआ और आज भी स्वतः होता है। शिक्षा मनुष्य की प्रकृति का अभिन्न अंग है। किसी को यह चिंता नहीं होनी चाहिए कि यदि स्कूल नहीं रहेंगे तो शिक्षा नष्ट हो जाएगी। पानी रहेगा चाहे तालाब नहीं, मानसून रहेगा चाहे नहरें न हों। पानी के कारण तालाब और नहरें हैं, मानूसन के कारण तालाब और नहरें हैं। तालाब और नहरों की वजह से मानसून निरर्थक नहीं होता।

जे. कृष्णमूर्ति का मानना था कि शिक्षा को देना और लेना सहज नहीं है। कोई भी किसी को जबरन शिक्षा दे नहीं सकता है। जैसे वृक्ष में स्वयं ही बढ़ने की शक्ति है वैसे ही मनुष्य में भी स्वयं विकसित होने की प्रेरणा अंतर्निहित है। स्कूल मनुष्य की उस अंतर्निहित विकास-प्रेरणा का लाभ ही उठा सकता है। स्कूल में यह सामर्थ्य नहीं है कि जो स्वयं सीखना नहीं चाहे उसे कुछ सिखा सके। इसलिए 'शिक्षा अनिवार्य होगी' ऐसा कहना तथा मानना व्यर्थ है। स्कूल वही सफल है जो शिष्य में जागरण, विकास, सत्यं-शिवं-सुदरं आदि की संकल्प शक्ति जगा दे। मुझे याद है कि जिस संस्था में मैंने शिक्षा पाई उसने स्वयं मुझ में ही सुधार तथा विकास की लगन तथा संकल्प-शक्ति पैदा कर दी। मैं स्वयं अपने विकास के लिए उत्तरदाई बन गया। नतीजा यह हुआ कि स्कूल तो छूट गया पर तालीम मेरी चलती रही। मैंने सन् 1936 में हाईस्कूल पास किया। उस बात को आज 57 वर्ष बीत गए। तो इन 57 वर्षों में मेरी शिक्षा क्या बंद रही है? मेरी शिक्षा बंद नहीं रही, वह चलती रही और आज भी जारी है।

तो बिना स्कूल के ही मेरी शिक्षा कैसे तथा क्यों चलती रही? कारण एक ही है कि मैंने जो भी कार्य किया उससे मैंने

अनुभव पाया, उस पर मैं सोचता रहा, लिखता रहा, पढ़ता रहा, कुछ अभ्यास करता रहा और मेरी शिक्षा चलती रही। मैं जब 5 वर्ष का था तब मुझे स्कूल में ले जाया गया कि मुझे भरती किया जाए। पर उस समय मान्यता यह थी कि 7वां वर्ष लगे उसके पूर्व मां-बाप का लाड़-प्यार तथा स्वतंत्र जीवन बच्चे को मिलना चाहिए। तो शिक्षक ने भरती करने से इंकार किया। दो वर्ष बाद मेरी स्कूली शिक्षा शुरू हुई। पर क्या स्कूल में भरती होने से पूर्व मेरी शिक्षा बिल्कुल नहीं हुई? 7 वर्ष से 17 वर्ष तक के दस वर्ष मैंने स्कूल में बिताए अर्थात् अपने जीवन का 1/7 समय मैंने स्कूल में बिताया, पर क्या इसके पूर्व या इसके बाद मेरी शिक्षा नहीं चली? और जिन्होंने स्कूल में कोई समय नहीं बिताया और निरक्षर रह गए हैं उन्हें क्या अशिक्षित मान लिया जाए?

मैं ऐसा नहीं कह रहा हूं कि स्कूलों में तालीम की संभावना नहीं है। खुदा के वास्ते मुझे गलत न लें। मेरा कहना है कि स्कूलों की कोई मोनोपॉली तालीम पर नहीं है। स्कूलों का तालीम पर कोई एकाधिकार नहीं है, जैसा कि भ्रांतिवश माना जा रहा है। तो स्कूलों का यह तीसरा तथा सबसे बड़ा अपराध है कि उन्होंने जनता में यह भ्रांति फैला रखी है कि इस पृथ्वी पर यदि कहीं कोई तालीम है तो स्कूलों में ही है, स्कूलों में ही है, स्कूलों में ही है। जितनी प्यास (इस पृथ्वी की) बरसात से बुझ रही है, उतनी सिंचाई से नहीं। इसलिए सिंचाई को यह घमंड नहीं करना चाहिए कि यदि कोई पानी सींच सकती है तो केवल सिंचाई। इसी प्रकार इस पृथ्वी पर मनुष्य की तालीम जितनी उसके मानव स्वभाव से, उसके वातावरण से, उसके समाज से, उसके कर्म से हो रही है उतनी स्कूलों से नहीं। इसलिए स्कूलों को यह घमंड नहीं करना चाहिए कि वे ही तालीम के खेत या खजाने हैं।

माली पौधे को खाद-पानी-रोशनी-सुरक्षा देकर उसकी बढ़ोतरी में मदद ही कर सकता है। अतः माली को यह निरर्थक घमंड नहीं करना चाहिए कि पौधे में जो बढ़ने की मूल प्रकृति है वह भी माली की देन है। तालीम का यानी सुधार, विकास, आत्माभिव्यक्ति का स्वभाव मनुष्य की प्रकृति या स्वभाव में जन्मजात है। स्कूल उस स्वभाव को पैदा नहीं कर सकता था यदि वह पूर्वमेव नहीं होता। मनुष्य तो स्कूल के बिना भी तालीम पा सकता है, पर स्कूल मनुष्य के बिना तालीम नहीं कर सकेगा, सो ध्यान रहे।

जैसे जल में यह प्रकृति है कि उतार की तरफ बहे और भाप में यह प्रकृति है कि आकाश में ऊपर उठे, वैसे ही मनुष्य में यह जन्मजात प्रकृति है कि वह प्रश्न करे, आश्चर्य करे, जिज्ञासा रखे, अनुसंधान, अन्वेषण तथा आविष्कार करे। कर्म मनुष्य को रोटी मात्र नहीं देता, कर्म मनुष्य का ज्ञानदाता गुरु भी है। जिस युग में स्कूलों की कोई कल्पना भी नहीं थी, कर्म गुरु मौजूद था, कर्म में सरस्वती विराजमान थी। आज भी वह नियम उलट नहीं गया। आज भी पानी नीचे की तरफ ही बहता है, भाप ऊपर की तरफ उठती है और आज भी मनुष्य की प्रकृति में प्रश्न, जिज्ञासा, आश्चर्य एवं अनुसंधान मौजूद हैं तथा आज भी मनुष्य का कर्म तथा उसका वातावरण एवं उसकी संगति उसे शिक्षा देने में सक्षम है। जैसे रथ को खींचने वाले तो घोड़े ही होते हैं न कि सारथी, उसी प्रकार शिक्षा के रथ को कर्म ही आगे ले जाता है, शिक्षक नहीं।

हम शिक्षा के ये स्कूल रूपी स्टोर या भंडार रखें तथा शिक्षा की सप्लाई जारी रखें यह अच्छा है। पर शिक्षा के इन स्टोरों या भंडारों में शिक्षा की उपज कहां से, किस सोर्स से आती है उसे नहीं भूलें। शिक्षा कर्म के खेत में पैदा होती है, उसका व्यापार यदि स्कूल करें तो खुशी से करें, पर अपनी सीमाओं का ध्यान रखें।

स्कूल के हिसाब से मैं आज केवल बी.ए., बी.एड. हूं। पंद्रहवीं कक्षा पास हूं। पर जीवन के हिसाब से मैं 75वीं कक्षा का विद्यार्थी हूं, मेरी इस बात को स्कूल वाले मानें चाहे न मानें और इसका प्रमाण-पत्र दें या न दें। वे प्रमाण-पत्र कैसे देंगे? वहां 75वीं कक्षा है ही नहीं। केवल जीवन का ही स्कूल ऐसा है जिसमें इतनी ऊंची कक्षाएं होती हैं।

स्कूल ऐसा स्थान है, जहां अमुक तारीख को तालीम प्रारंभ होती है और अमुक तारीख को खत्म होती है। स्कूल यदि चाहे तो तालीम और तालीम के बीच छुट्टी मना सकता है। पर क्या तालीम ऐसी प्रक्रिया है जो कभी शुरू तथा कभी खत्म होती है और जो बीच-बीच में दशहरा, दीवाली तथा गर्मी की छुट्टियां मना सके? ❖

घृणा

इस संसार में घृणा से घृणा कभी कम नहीं होती, घृणा
प्रेम से ही कम होती है, यही सर्वदा उसका स्वभाव रहा है।

—धम्मपद

कहानी

नंगे पैर

❑ वेंकटेश माडगूलकर ❑

जाड़ा गया और गर्मी आई। तेज धूप भी पड़ने लगी। कोलतार की सड़क तपने लगी। डामर पिघलने लगा। इतनी कड़ी धूप में कोई किसी को फांसी भी नहीं देता, पर पोस्टमैन आता, उसके पास छाता नहीं, साइकिल नहीं और जूता भी नहीं। धूप में उसका चेहरा लाल-पीला होता। पसीने से उसका कोट पीठ से चिपका रहता। सूखे अधरों पर वह जुबान फिराकर लजीली हंसी-हंसता और डाक देकर लौट जाता, धूप से जलते नंगे पैरों घूमता।

दोपहर का समय था। बेबी अपने पलंग पर बैठी खिड़की से बाहर देख रही थी। बीच हाल में रखे रेडियो में साढ़े बारह बजे के रिकार्ड बज रहे थे। प्रशांत वातावरण में गीतों के स्वर गूंज रहे थे। सामने का बंद फाटक खोलकर पोस्टमैन भीतर आया। अहाते की बजरी पर उसकी पदचाप सुनाई दी। बेबी को खिड़की से पोर्च दिखलाई नहीं देता था। पोस्टमैन की आवाज उसके कानों में आई, पर फर्श पर डाक के पड़ने की आवाज सुनाई नहीं दी। बेबी पीछे मुड़ी। संभल कर पलंग से उतरी और बैसाखियों के सहारे अपने लंगड़े पैरों से कदम-कदम दरवाजे तक आई। बंद दरवाजा खोलने में उसे थोड़ा समय लगा। दरवाजे से बाहर आ, हाल को पार कर आगे आने में उसे थोड़ी देर लगी। कष्टपूर्वक इतना चलने के बाद उसने आकर देखा कि हाथ में डाक लिए अभी पोस्टमैन खड़ा है। फर्श पर डाक फेंक कर अभी गया नहीं।

सीढ़ियों के ऊपर खड़ी होकर उसने हाथ बढ़ाया और उसके ध्यान में आया कि आज पोस्टमैन दूसरा ही है। सदा का वह दाढ़ीवाला पोस्टमैन नहीं है। कोमल बच्चों के-से चेहरे वाला यह नया पोस्टमैन है।

बेबी के पैरों की ओर दृष्टि जाते ही पोस्टमैन को एक छोटा-सा धक्का लगा। वह द्रवित-सा हो गया और आदर से उसने डाक उसके हाथ में दे दी। बूढ़े पोस्टमैन की तरह इस पोस्टमैन ने कोई बात न की। मां के हाथ में डाक देकर बेबी पीछे की ओर मुड़ी और बड़ी कुर्सी पर बैठकर बोली—

'मां, आज का पोस्टमैन नया था!'

'अरी, इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है? बदल गया होगा।'

बेबी की मां ने 'बालमित्र' का अंक बेबी के आंचल में रखा, रेडियो बंद किया और वह अपने कमरे में चली गई। दोपहर में बेबी को सदैव एकांत-सा लगता। किसके साथ बात करे, किसके साथ हंसे, यह प्रश्न सदा ही बना रहता। ऐसे समय में पोस्टमैन आता। हमेशा ही वह जल्दी में रहता, फिर भी वह कभी-कभी खिड़की तक जाकर डाक देता। कोई-न-कोई परिचित आया देखकर बेबी को आनंद होता।

इसके बाद तीसरे दिन फिर पोस्टमैन की आवाज आई, पर डाक गिरने की आवाज नहीं सुनाई दी। कष्ट से चलती हुई बेबी अहाते में आई। पोस्टमैन अभी खड़ा था। बेबी की ओर देखकर उसने लज्जायुक्त स्मित किया, बेबी भी हंसी। डाक लेकर बेबी ने पूछा, 'क्या तुम नए पोस्टमैन हो?'

'जी हां।'

'डाक फेंककर तुम चले जाया करो। मुझे आने में देर लगती है।'

पोस्टमैन ने बेबी के पैरों की ओर देखा। देर तक वह मौन रहा। इतनी सुंदर लड़की को भगवान ने पैर क्यों नहीं दिए? ऐसा उसे लगा होगा। वह कुछ बोला नहीं, पर उसकी आंखों से इस अर्थ की दया द्रवित हुई।

अंततः दया से मृदु हुई एवं दबी आवाज में उसने कहा, 'लगने दो बहिन। पोस्टमैन का काम जिस-तिस की डाक को जिस-तिस के हाथ में सौंपने का है, अहाते में फेंकने का नहीं।'

वह बोल रहा था, तब बेबी ने उसके पैरों की ओर देखा। कितने मजबूत और गोल-गोल थे वे। इस पोस्टमैन के पैर कितने अच्छे थे। एकाएक बेबी के ध्यान में आया कि ये अच्छे पैर नंगे ही हैं। पोस्टमैन ने अपने पैरों में कुछ नहीं पहना? क्यों नहीं पहना? पोस्टमैन लौट गया। सुंदर पग धरते हुए चला गया। बेबी ने माना, कदाचित उसके जूते फट गए होंगे। वे मरम्मत होकर आते होंगे।

क्षणिक ही क्यों न हो, इस निर्णय में बेबी को समाधान मिला। डाक लेकर वह कुर्सी पर बैठ गई। पोस्टमैन के नंगे पैर उसके मन से धीरे-धीरे लुप्त हो गए।

जाड़ा गया और गर्मी आई। तेज धूप भी पड़ने लगी। कोलतार की सड़क तपने लगी। डामर पिघलने लगा। इतनी कड़ी धूप में कोई किसी को फांसी भी नहीं देता, पर पोस्टमैन आता, उसके पास छाता नहीं, साइकिल नहीं और जूता भी नहीं। धूप में उसका चेहरा लाल-पीला होता। पसीने से उसका कोट पीठ से चिपका रहता। सूखे अधरों पर वह जुबान फिराकर लजीली हंसी-हंसता और डाक देकर लौट जाता, धूप से जलते नंगे पैरों घूमता।

'मां, वह पोस्टमैन नंगे पैर ही क्यों घूमता है?'

मां ने कहा, 'चैन से कोई नंगे पैर घूमेगा बेटी? पैरों में डालने के लिए उसे मिलता न होगा।'

बेटी ने मन-ही-मन यह निश्चय किया कि इससे आगे वह उस गरीब पोस्टमैन को नंगे पैर चलने नहीं देगी। यह विचार पक्का हुआ और बेबी को विलक्षण संतोष हुआ। एक बड़ा काम अपने हाथ से होने जा रहा है, इस विचार से वह आनंदित हुई।

हमेशा आने वाला हरीबा जब घर पर आया, तब बेबी ने उसे पास बुलाया और पांच रुपये उसके हाथ में देकर धीमी आवाज में कहा, 'मुझे इसके जूते बना दो।' हरीबा ने बेबी के पंगु पैरों की ओर देखा और सिर हिलाकर कहा, 'बना दूंगा बहिन। नाप ले लूं?' वह बोली, 'अरे, मेरे पैर का नहीं।' 'फिर किसके लिए बहिन?' हरीबा ने पूछा।

इस प्रश्न को सुनकर बेबी एक उलझन में पड़ गई। उसको लगा कि मानो अब सारा खेल बिगड़ने जा रहा था। अंत में प्रतीक्षा करते हुए मोची को उसने कहा, 'दो दिन बाद आओ हरीबा, मैं नाप दूंगी।'

दूसरे दिन पोस्टमैन आया और थोड़ी देर तक रुककर डाक देकर चला गया। डाक को कुर्सी पर रखकर बेबी अहाते के किनारे आई और सीढ़ियों से नीचे उतर आई, फिर फ्रॉक की जेब से परकार निकाल कर जाने वाले पोस्टमैन के पदांकों का नाप लिया—आड़ा, सीधा, टेढ़ा। वह माप, वह आकार ध्यान में रखा और फिर उसी कष्ट के साथ कमरे में आ गई।

हरीबा को काम मिला। उस हिसाब से जूते तैयार किए और बेबी को लाकर दिए। तब होली का त्यौहार मनाया जा चुका था। पोस्टमैन कब आएगा, इसकी प्रतीक्षा करती हुई बेबी बैठ गई।

दोपहर को पोस्टमैन आया, बेबी के आने की राह देखने लगा। पैर घसीटती-घसीटती बेबी आई। उसके हाथ में पुराने समाचार-पत्र में लिपटा एक बंडल था। अहाते में आकर बेबी खड़ी रही। सदैव की भांति बिना अधर खोले वह मुस्कराया और पत्रों का गट्ठा उसने बेबी के हाथ में दे दिया।

बेबी ने पोस्टमैन के हाथ में जूते का बंडल थमा दिया। अचरज में सकपकाकर उसने बंडल खोला। भीतर सुंदर जूते थे। पोस्टमैन मन-ही-मन कह उठा, 'इस बच्ची ने मेरे नंगे पैर को जूते दिए। उसके पैर नहीं हैं, वे मैं कैसे दे सकूंगा।'

काम खत्म करके वह पोस्ट-ऑफिस गया। बड़े बाबू के टेबल के सामने जाकर बोला, 'साहब, मेरी लाइन बदल दीजिए, सिटी में कहीं बदली कर दीजिए।' ❖

मैत्री : दृष्टि का.....पृष्ठ 31 का शेष

खोओ। उसे शत्रु मत मानो। यह महान व्यक्तित्व की प्रक्रिया है। वह इतना विराट् बन जाता है कि उसके सामने फिर शत्रु जैसा कोई व्यक्ति नहीं होता। भगवान महावीर को देखें। अन्यान्य साधकों को देखें। वे सब अपनी साधना के द्वारा ही महान बने थे।

आराधना का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—मैत्री का विकास। मैत्री के विकास के लिए शक्ति का विकास और शक्ति के विकास के लिए सहिष्णुता का विकास, निर्मलता का विकास। जब ये सब विकास हमारी चेतना में घटित होते हैं तब दृष्टि का रूपांतरण होता है। हम तब सचमुच इकोलॉजी के सिद्धांत की परिधि में आ जाते हैं। इस नई शाखा का विकास जितना अहिंसा के जगत में हुआ है, उसका पुनरावर्तन हो रहा है—बहुत ही थोड़े अंशों में। परस्परावलंबन, सहयोग और परस्पर निर्भरता—ये सब प्रकृति के कण-कण से जुड़े हुए हैं। ये सब अहिंसा के सिद्धांत में बहुत विकसित हुए हैं।

❖

क्षमा की सरिता : निमज्जन के क्षण

❑ मुनि मदनकुमार ❑

समता की चेतना से मैत्री उत्पन्न होती है और मैत्री के विकास से समता की साधना पुष्ट होती है। अंतःकरण की पवित्रता और निर्मलता से उद्भूत अहिंसा की भावधारा मैत्री बनती है। मैत्री चैतन्य के स्तर पर होने वाली विशिष्ट विशुद्धि से अनुबंधित है। मैत्री की चेतना सर्वथा उपादेय है। मैत्री की चेतना पर ही मोक्ष रूपी महल खड़ा होता है। जिसका चित्त मैत्री से परिपूर्ण होता है, वही अप्रमत्त जीवन-शैली का अधिकारी बनता है। कलुषित चित्त स्वस्थ जीवन-शैली और मोक्ष मार्ग की आराधना में सबसे बड़ी बाधा है। कलुषित चित्त में धर्म का अवतरण कठिन हो जाता है। धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई—धर्म केवल शुद्ध आत्मा में ही ठहरता है, यह एक अनुभूत सत्य है।

संवेग-नियमन और आवेशमुक्त व्यवहार मनुष्य जीवन की सफलता है। लेकिन जब तक प्रियता या राग का मनोभाव प्रबल रहता है, तब तक संवेग-नियमन का सूत्र मात्र स्वप्न बना रहता है। विवेक चेतना या वीतराग चेतना के विकास से संवेगों पर नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है। आंतरिक शक्ति के अभ्युदय में कषायमुक्त जीवन-शैली का विशिष्ट योगदान है। क्रोध आदि कषाय से व्यक्ति कमजोर बनता है और स्वास्थ्य, मनोदशा व नैतिक बल में न्यूनता के लक्षण प्रकट होते हैं। प्रसन्नात्मा बनने के लिए कषायमुक्त और शल्यमुक्त बनना जरूरी है। आंतरिक पवित्रता और प्रसन्नता से ही व्यक्ति के जीवन में चिरस्थाई सुख की सृष्टि हो सकती है। अहंकार और ममकार की चेतना को परिमार्जित करके ही जीवन की पथरीली राहों में अध्यात्म का उजाला फैलाया जा सकता है। आधि, व्याधि और उपाधि के चक्रव्यूह को तोड़कर ही जीवन में आनंद, शक्ति और शांति को प्रतिष्ठा दी जा सकती है। मानसिक संतुलन और भावनात्मक परिष्कार की दिशा में गतिशील बनकर ही दुखमुक्त और समस्यामुक्त जीवन को रूपायित किया जा सकता है। क्रोध और मान तथा माया और लोभ के बीच घनिष्ठ संबंध हैं।

क्रोध के चार प्रकार निर्दिष्ट हैं। मंदतम क्रोध क्षणिक होता है। जिसका क्रोध शीघ्र शांत हो जाता है, उसे नीतिकार ने उत्तम कोटि का मनुष्य माना है। शल्य और ग्रंथिपात से बचने के लिए क्रोध का तत्काल शमन आवश्यक होता है। बार-बार क्रोध करना और क्रोध को टिकाए रखना मानसिक शांति और व्यक्तित्व निर्माण की प्रमुख बाधा है। जिस व्यक्ति का क्रोध के कारण 'मूड' दो प्रहर तक अस्त-व्यस्त और खिन्न रहता है, उसे मध्यम कोटि का मनुष्य मानना चाहिए। ऐसे व्यक्ति संबंध-सुधार की दृष्टि से पिछड़ जाते हैं तथा जीवन में ताजगी का सुख नहीं भोग पाते हैं। जिस व्यक्ति का क्रोध आठ प्रहर तक टिकाऊ बनकर रहता है, उसे अधम कोटि के मनुष्यों में गिना जाता है। ऐसे व्यक्ति रोगों को निमंत्रण देने वाले तथा कलहपूर्ण जीवन जीने के अभ्यस्त बन जाते हैं। जिस व्यक्ति का क्रोध शरीर के छूटने पर ही खत्म होता है, ऐसे व्यक्ति नीच कोटि में गिने जाते हैं। वे यावज्जीवन क्रोध के दावानल में झुलसते रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों का जन्म निरंतर व्यथा और वेदना को भोगने के लिए ही होता है। वे अकथनीय पीड़ा को भोगते हुए जीवन को नीरस बना देते हैं तथा उसकी रसवत्ता को समाप्त कर देते हैं। इस मार्मिक सचाई को अभिव्यक्ति देने वाली संस्कृत साहित्य की ये पंक्तियां अत्यंत मननीय हैं—

उत्तमस्य क्षणं कोपं, मध्यमस्य प्रहरद्वयम्।
अधमस्य अहोरात्रं, नीचस्य मरणान्तकम्।।

आगम-साहित्य में क्रोध को प्रीति का नाशक तथा शत्रुता का उत्पादक बतलाया गया है। घोर प्रतिक्रिया और प्रतिशोध की भावना को पैदा करने में क्रोध की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। क्रोध शरीर, मन और आत्मा तीनों का विध्वंसक है। इसे महापाप कहना भी अनुचित नहीं है। जीवन-शैली को विषाक्त बनाने में क्रोध का प्रथम स्थान है। बुखार शरीर का

उत्ताप होता है और क्रोध आत्मा का उत्ताप। शारीरिक उत्ताप यदि 105 डिग्री पर पहुंच जाए तो व्यक्ति के भयंकर संवेदन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तथा मूर्च्छा और मृत्यु की संभावना भी बन सकती है। उसे तत्काल मिटाने का प्रयत्न ही वांछनीय होता है। इसी तरह आत्मा का भयंकर उत्ताप क्रोध है, इससे वर्तमान और भावी जीवन के विनष्ट होने की संभावना प्रबल हो जाती है। अध्यात्म मनीषियों ने क्रोध का भी मापन किया है तथा उदाहरण की भाषा में उसकी सरलतम प्रस्तुति दी है। मनीषी बताते हैं कि संज्वलन क्रोध पानी की रेखा के समान होता है, उसकी स्थिति (काल-Time) और अनुभाग (विपाक-Intensity) को मंदतम कहा जा सकता है। इसी प्रकार प्रत्याख्यान क्रोध बालू की रेखा के समान होता है, जो पवन-वेग की तरह शीघ्र ही मिट जाता है, इसे मंद क्रोध कहा जा सकता है। अप्रत्याख्यान क्रोध भूमि की रेखा के समान होता है जिसे मिटने के लिए वर्षा का योग चाहिए। यह तीव्र क्रोध की स्थिति है। इसी तरह अनंतानुबंधी क्रोध पत्थर की रेखा के समान होता है, जिसका मिट पाना दुष्कर है। यह क्रोध दुर्दम और तीव्रतम होता है। क्रोध के इन चार प्रकारों में स्थिति और अनुभाग की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है तथा आध्यात्मिक उत्ताप बढ़ता ही चला जाता है।

क्रोध विष है जबकि इसका प्रतिपक्ष क्षमा अमृत है। क्षमा की साधना अमृतोपम बनने की साधना है। क्षमा महान तप है। इससे बढ़कर कोई तप नहीं है। जो मनुष्य पृथ्वी की तरह क्षमाशील होता है, वह दुख के क्षणों को भी सुख में बदल देता है। क्रोध को क्षमा में बदल देने वाला सचमुच उत्तमोत्तम होता है। उसकी साधना में सहज सौंदर्य होता है। स्थानांग सूत्र में वर्णित दस धर्मों में क्षमा प्रथम धर्म है। यह आत्म-विकास का आदि-मंगल है। क्रोध को हजम करना और क्षमा को धारण करना महातप है। एक मास तक भूखा रहना सरल है, किंतु क्रोध-विजय दुष्कर है। क्षमा की आराधना के बिना तपस्या मात्र कायक्लेश और प्रदर्शन बनकर रह जाती है। उसकी निष्पत्ति फूस-वपन जैसी हो जाती है। शास्त्रकार का मार्मिक कथन है कि कषाय कृश नहीं हुआ तो मात्र काय कृश होने से क्या लाभ होगा? मात्र काय कृशता की प्रवृत्ति प्रशंसनीय नहीं है। आंतरिक विकास में ही तप का गौरव है। तेरापंथ अनुशास्ता श्रीमज्जयाचार्य के शब्दों में अप्रिय शब्दों को समभाव से सहने वाला महातपस्वी होता है। इस क्षमाशीलता के समक्ष एक माह की तपस्या भी अकिंचित्कर हो जाती है। क्षमा गुण की वृद्धि के लिए उनकी यह प्रेरक गाथा सदैव मननीय है।

मास मासखमण तप करे निरंतर, इतरा कर्म कटै इक छिन में रे
वचन कुवचन सहै समभावे, राग द्वेष न आणे मुनि मन में रे

समर्थ व्यक्ति के लिए क्षमा की आराधना का अतिरिक्त मूल्य है। क्षमा कोई विवशता का धर्म नहीं है। विवश और पराधीन व्यक्ति तो यों ही बहुत कुछ सह लेता है। जब उसमें प्रतिकार की क्षमता ही न हो तो सह लेना उसकी नियति बन जाती है। स्वाधीनता की स्थिति में भी प्रतिकूल व्यवहार को सहा जाए और मानसिक उद्वेग से बचा जाए, यह क्षमा का मूर्त्त रूप है। राष्ट्रकवि दिनकर इसी भावना को उद्योतित करते हुए लिखते हैं—

क्षमा शोभती उस भुजंग को, जिसके पास गरल हो।
उसको क्या जो दंतहीन, विषहीन विनीत सरल हो।।

क्षमाशील व्यक्ति को भूमि का भूषण माना गया है। क्षमा दूसरों के लिए नहीं, स्वयं के लिए है। इससे व्यक्ति स्वयं तो कृतार्थ होता ही है, दूसरों को भी प्रासंगिक लाभ मिल जाता है। क्षमा एहसान नहीं, आदर्श है, पर यह भी समझना जरूरी है कि जो अपनी क्षमा का बखान करता है, वह क्षमा की आदर्श स्थिति नहीं होती। अपने गुणों का प्रकाशन करना भी क्षमा गुण को मर्माहत करने जैसा ही प्रयास है। आत्म प्रशंसा और पर निंदा से बचने वाला ही यथार्थ में क्षमाशील होता है। पुष्ट मनोबल से ही क्षमा को धारण किया जा सकता है। क्षमाशील व्यक्ति को बलवान और धृतिमान समझना चाहिए, कमजोर और अधीर नहीं। असि-धारा पर चलने जैसा दुर्गम-पथ है क्षमा का। असहिष्णु व्यक्ति अल्प प्रतिकूलता में ही शीशे की तरह तड़क सकता है। श्रीमज्जयाचार्य ने सहिष्णु और क्षमाशील व्यक्ति को हीरे और स्वर्ण की महिमासंपन्न उपमा से उपमित किया है। उनकी यह अमूल्य शिक्षा क्षमा गुण के विकास का सुदृढ़ सोपान है।

काच कथीर अधीर नर, कस्यां न उपजै प्रेम।
कसणी तो धीरा सहै, का हीरा के हेम।।

हम देखते हैं कि आवेश के क्षणों में मनुष्य के भीतर चंचलता, पीड़ा और व्यथा बढ़ जाती है। कर्मशास्त्रीय दृष्टि से आवेश और चंचलता की बहुलता में प्रचुर कर्म का बंधन होता है। कभी आवेश मंद, कभी तीव्र। कभी व्यक्त और कभी अव्यक्त। जितना आवेश, उतना बंधन। अव्यक्त आवेश चेतना में निरंतर बना रहता है। मंद और तीव्र आवेश के अनुसार कर्म-बंधन की प्रक्रिया अनवरत चलती रहती है। शरीरशास्त्रीय दृष्टि से आवेश की स्थिति में व्यक्ति के भीतर पाचन, रक्त-संचार, स्नायविक और अंतःस्रावी क्रियाएं

अस्त-व्यस्त हो जाती हैं। शरीर में हलचल बढ़ जाती है और कंपन व शक्तिहीनता का-सा अनुभव होने लगता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आवेश की स्थिति में चित्त उद्विग्न और मन अशांत बन जाता है। तनाव और व्यथा चरम स्थिति में पहुंच जाते हैं। आचारशास्त्रीय दृष्टि से आवेश की स्थिति में संबंधों में कटुता और मैत्री का लोप होने लगता है। प्रमोद, मंगल भाव और सद्भाव को भारी क्षति पहुंचती है। आरोग्य विज्ञान की दृष्टि से आवेश का प्रयोग रोग और मौत को निमंत्रण है। इंद्रिय विकलता और बुढ़ापे के लक्षण शीघ्र प्रकट होने लगते हैं। पर्यावरण संतुलन की दृष्टि से आवेश प्रकृति को छोड़ विकृति में जीने का प्रयत्न है। यह मानसिक हिंसा है, जो प्राणी-जगत को भयभीत बना देती है। क्रोध शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियों के उभयपक्षीय आतंक है।

'मित्ति मे सव्वभूएसु' जैनागम की एक महत्त्वपूर्ण घोषणा है। मैत्री का भाव आध्यात्मिक संस्कृति का प्राण तत्त्व है। प्रेम और करुणा का विस्तार या अप्रतिबद्धता ही मैत्री है। मैत्री शब्द के पीछे अध्यात्म का विराट दर्शन है। मैत्री शब्द असंकीर्ण और अहिंसक चेतना का प्रतिनिधि शब्द है। प्रेम प्रायः रागात्मक चित्तवृत्ति को अभिव्यक्ति देने वाला शब्द है। प्रेम किसी व्यक्ति या वर्ग विशेष के साथ जुड़ा रहता है जबकि मैत्री का भाव सार्वभौम है। प्राणीमात्र के प्रति अहनन-चेतना का विकास मैत्री है। अहिंसा की भूमि पर ही मैत्री का पौधा पल्लवित और पुष्पित होता है। जीवास्तिकाय में लोक के संपूर्ण जीवों का समावेश होता है, वैसे ही मैत्री में प्राणीमात्र के प्रति समता का आचरण संनिहित है। समता की चेतना से मैत्री उत्पन्न होती है और मैत्री के विकास से समता की साधना पुष्ट होती है। अंतःकरण की पवित्रता और निर्मलता से उद्भूत अहिंसा की भावधारा मैत्री बनती है। मैत्री चैतन्य के स्तर पर होने वाली विशिष्ट विशुद्धि से अनुबंधित है। मैत्री की चेतना सर्वथा उपादेय है। मैत्री की चेतना पर ही मोक्ष रूपी महल खड़ा होता है। जिसका चित्त मैत्री से परिपूर्ण होता है, वही अप्रमत्त जीवन-शैली का अधिकारी बनता है। कलुषित चित्त स्वस्थ जीवन-शैली और मोक्ष मार्ग की आराधना में सबसे बड़ी बाधा है। कलुषित चित्त में धर्म का अवतरण कठिन हो जाता है। धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई–धर्म केवल शुद्ध आत्मा में ही ठहरता है, यह एक अनुभूत सत्य है।

'मित्ती में सव्वभूएसु' का तात्पर्य है—मेरी सब जीवों के साथ मैत्री है। यह मैत्री का आदर्श और उत्कृष्ट रूप है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने इस सूक्त को 'मैत्री में सहवर्तिषु' के रूप में परिणत कर दिया जो अधिक प्रासंगिक लगता है। मेरी सहजीवियों के साथ मैत्री है, यह संकल्प सचमुच कल्याणकारी है। पत्नी, पुत्र, पड़ौसी, नौकर आदि के साथ मैत्री का भाव पुष्ट बने—यह अधिक उपादेय लगता है।

इसी संदर्भ में संवत्सरी महापर्व की चर्चा करना प्रासंगिक होगा।

संवत्सरी का दिन भीतर झांकने का पर्व है। अध्यात्म-मल को धोने और भूलों को परिमार्जित करने का अपूर्व क्षण है। यह चेतना को जगाने का सर्वोच्च अवसर है। आत्म-चिंतन और आध्यात्मिक-प्रेरणा का यह बेजोड़ अवसर है। भीतर की गांठों को खोलकर ही इस दिन को मनाया जा सकता है। सचमुच यह ग्रंथि-विमोचन का पर्व है। इस दिन के सफल समायोजन से मनोकायिक बीमारियों (Psychosomatic Diseases) के बढ़ते प्रभाव को न्यून किया जा सकता है। मानसिक कलुषता, दुराव और दुराग्रह के दूर होने से तन और मन स्वस्थ बनते हैं। क्षमा-याचना मानसिक चिकित्सा और भाव-परिष्कार का ब्रह्मास्त्र है। संवत्सरी महापर्व क्षमा-याचना और खमतखामणा का पर्व है। इसमें क्षमा का आदान-प्रदान होता है। इसमें न कोई याचक है और न कोई याचना। यह तो क्षमा की सरिता में डुबकी लगाने का अवसर है। क्रोध का प्रतिपक्ष है क्षमा; जब भी क्रोध आ जाए, प्रतिशोध की भावना जाग जाए, ग्रंथिपात हो जाए, दुर्मनस्कता पैदा हो जाए, तभी क्षमा का आदान-प्रदान कर लेना चाहिए। यह सम्यक्त्व सुरक्षा के लिए आवश्यक है। संवत्सरी के दिन भी खमतखामणा न करने वाला सम्यक्त्व से च्युत हो जाता है। अनंतानुबंधी चतुष्क को भेदने के लिए खमतखामणा का प्रयोग अत्यावश्यक है। यह क्रोध और मान पर जबर्दस्त प्रहार है तथा विनय और अंतर्दर्शन का विलक्षण प्रयोग है। जिसके साथ विशेष मन-भेद, मनमुटाव या मनोमालिन्य हो, उससे यथासंभव प्रत्यक्ष मिलकर अच्छी तरह से खमतखामणा करना चाहिए। यह मनःप्रक्षालन अत्यंत आवश्यक है। खमतखामणा में कोई छोटा या बड़ा नहीं होता। छोटा या बड़ा व्यक्ति शरीर से होता है, आत्मा से नहीं। खमतखामणा आत्म-शुद्धि का उपक्रम है। जब गणधर गौतम जैसे विशिष्ट ज्ञानी भी आनंद श्रावक के यहां खमतखामणा करने पहुंच सकते हैं तब हमारी तो औकात ही क्या है? आत्म-व्यापार के क्षेत्र में समीकरण निश्चय ही बदल जाते हैं। क्रोध को क्षमा से और लोभ को संतोष से ही जीता जा सकता है।

संवत्सरी महापर्व पर क्षमा का आदान-प्रदान व्यापक स्तर पर होता है। पत्र-व्यवहार भी प्रचुर मात्रा में होता है। पर यह औपचारिकता न बनकर व्यवहार के धरातल पर हो–यह

अपेक्षित है। हमें अपने आत्म-चिंतन के क्षणों में यह विचार करना चाहिए कि हमारी शत्रुता या मनोमालिन्य का भाव किसके प्रति है? वास्तव में तो उसी से खमतखामणा करना जरूरी है। दवाई वहां लगे, जहां दर्द है, तभी उसकी सार्थकता है। विग्रह और विद्वेष का शमन करने के लिए तथा ग्रंथि विमोचन के लिए तत्संबंधी व्यक्ति से खमतखामणा करना परमावश्यक है। स्मरण रहे, यह खमतखामणा हस्तिस्नानवत् न हो जाए। जैसे हाथी सरोवर में स्नान करने के बाद सूंड में मिट्टी भरकर स्वयं के शरीर पर उछालने लगता है। ऐसे स्नान का मूल्य क्या होगा? खमतखामणा करने के पश्चात् प्रेम और सौहार्द भी बढ़ना चाहिए और जागरूकता भी। पुनः आवेश और अपराध की स्थिति उत्पन्न न हो जाए, इसके लिए दृढ़ संकल्प भी जरूरी है। यह आत्म-स्नान चिरकाल तक बना रहे वैसा प्रयत्न निरंतर अपेक्षित है। खमतखामणा का प्रभाव क्षणिक न हो। संवत्सरी महापर्व विवाद-मुक्ति और आत्म-स्नान का अचूक अवसर है। एक सुपरिचित श्रावक से पूछा—संवत्सरी कैसे मनाई? उसने कहा—बहुत अच्छे ढंग से। उस दिन उपवास और अष्टप्रहरी पौषध किया। पूरे दिन प्रवचन सुना और सायंकाल प्रतिक्रमण कर चौरासी लाख जीव-योनि से क्षमा याचना की। उस श्रावक से फिर पूछा—अपने सगे भाई से खमतखामणा किए या नहीं? वह श्रावक तपाक से बोला—मेरा भाई चौरासी लाख जीव-योनि से बाहर है? उससे अलग से क्या खमतखामणा करना? मैंने सोचा—इस प्रियधर्मी श्रावक ने सभी छोटे-बड़े जीव यावत् चींटी से लेकर हाथी तक से खमतखामणा कर ली है किंतु सगे भाई से ही जब खमतखामणा नहीं हुए तो संवत्सरी महापर्व की आराधना और खमतखामणा का औचित्य उसके लिए क्या रह जाता है?

भगवान महावीर क्षमा के मूर्त रूप थे। उन्होंने जितना सहा, शायद किसी भी तीर्थंकर ने नहीं सहा। उनके युग में चंडकौशिक और गोशालक क्रोध के दावानल थे, भगवान महावीर ने उनको भी अत्यंत सहिष्णुता से सहा। आचार्य भिक्षु की सहिष्णुता भी बेजोड़ थी। उन्होंने जितना सहा, शायद किसी आचार्य ने सहा हो, ज्ञात नहीं है। भगवान महावीर और आचार्य भिक्षु की तितिक्षा-वृत्ति जैन परंपरा में प्रेरक तथा रोमांचकारी है। आचार्यश्री तुलसी का जीवन भी क्षमा का प्रेरक निदर्शन है। उनकी प्रतिक्रिया विरत वाणी से यह स्वर फूटा था—'जो हमारा करे विरोध, हम उसे समझें विनोद।' कितना रचनात्मक था उनका उद्घोष और कितनी रसवती थी उनकी जीवन-शैली। यदि हम उनके प्रति श्रद्धा, समर्पण और गौरव की अनुभूति करते हैं तो हमारी सोच और शैली निस्संदेह क्षमा से आप्लावित होनी चाहिए।

आगम सूक्त है—पत्तेयं पुण्ण पावं। शुभाशुभ कर्म अपने-अपने होते हैं। कर्म के अनुरूप व्यक्ति का आचरण और व्यवहार होता है। मोह कर्म व्यक्ति के भीतर मादकता पैदा करता है और तदनुरूप प्रवृत्ति के लिए प्रेरित करता है। कोई व्यक्ति क्रोध, आक्रोश या दुर्व्यवहार करे तो यह उसके कर्म-परिणमन का प्रतिफल है या उसके व्यक्तित्व का दुर्बल पक्ष है, किंतु इन सब स्थितियों में आवेशपूर्ण व्यवहार क्यों किया जाए? क्या वमन को देखकर वमन और रोदन को देखकर रोदन किया जाए? क्या ऐसा करने वाला अज्ञानी नहीं कहलाएगा? चेतना के भीतर उदय और अनुदय दोनों प्रकार की प्रणाली मौजूद है। कभी उदय बलवान बनता है और कभी अनुदय। क्षयोपशम प्रणाली को प्रभावी बनाकर ही हम सफल जीवन जी सकते हैं। क्रोध आत्मा का स्वभाव नहीं, किंतु विभाव है। क्रोध का भाव पराया है। वह किरायेदार की तरह गृह-मालिक बनकर बैठा है। क्या पराई वस्तु को अपनी वस्तु मानना भूलभरा चिंतन नहीं है? शरीर, परिवार, धन, स्त्री आदि सब कुछ पराया है। कोई व्यक्ति पराई स्त्री को अपनी स्त्री कह दे तो? पराया, पराया ही है। ज्ञान-दर्शनयुक्त आत्मा ही मेरी है, शेष सब पराया है। आत्मा ही मूल्यवान है। इस शरीर के भीतर आत्मा है, इसलिए शरीर का मूल्य है। आत्मा के निकल जाने पर शरीर की इज्जत कौन करता है? फिर तो उसे कुछ घंटों के लिए रखना भी भारी भरकम लगता है। निस्संदेह पराई वस्तु के प्रति सापेक्ष चिंतन जरूरी है। कौन नहीं जानता है कि पराई वस्तु में उलझकर राम ने सीता को खोया और रावण ने प्राण खोए? ❖

जिस मनुष्य की सब आसक्तियां समाप्त हो गई हैं, जो मुक्त हो चुका है, जिसकी चेतना दृढ़तापूर्वक ज्ञान में स्थित हो गई है, जो कर्म को यज्ञ समझकर करता है, उसके सारे कर्म पूर्ण रूप से विलीन हो जाते हैं।

—श्रीमद्भगवद् गीता

नन्दकिशोर आचार्य की कविताएं

हर बार

हर बार
हरा हो जाता जंगल
बारिश में
लेकिन मैं जो ठूंठ हूं
हर बार
और गल जाता हूं।

नया करती हुई

बांज का घना जंगल
दोपहर सूनी।

कब से झरे सूखे हुए पत्तों पर
पक कर नए झरते
पात की खड़कन :
जंगल की खामोशी को
नया करती हुई।

बेसुरी पदचाप

एक लय को साधता जंगल
उचट कर बिखर जाता,
फड़फड़ाता
मेरी बेसुरी पदचाप से।

टूटने की गूंज में

नहीं, अब कच्चा नहीं,
पकने लगा है हरा
भूरेपन की ओर बढ़ता हुआ...

एक दिन झर जाऊंगा चुपचाप।

कभी जंगल में भटकता पांव कोई
पड़ेगा मुझ पर
मेरे टूटने की गूंज में
पहचानता खुद को।

नए क्रम में

बर्फ बाहर गिर रही है।

यह अलाव भी बुझ चला-सा है
एक अधजली लकड़ी से मैं
झाड़ता हूं राख
बुझ रही लकड़ियों को
नए क्रम में
पुनः चुनता हूं।
फूंक से जगाता हूं आग
सोई हुई;
एक धीमा ताप
सब पर व्याप
जाता है
मीठा और उदास।

बर्फ बाहर गिर रही होगी।

●●

यही दर्पण

जब देखो
दर्पण में अपनी आंख
दिखती है—
खुद को हटा लूं
तो यही दर्पण
सभी कुछ हो जाएगा।

❖❖

शीलन

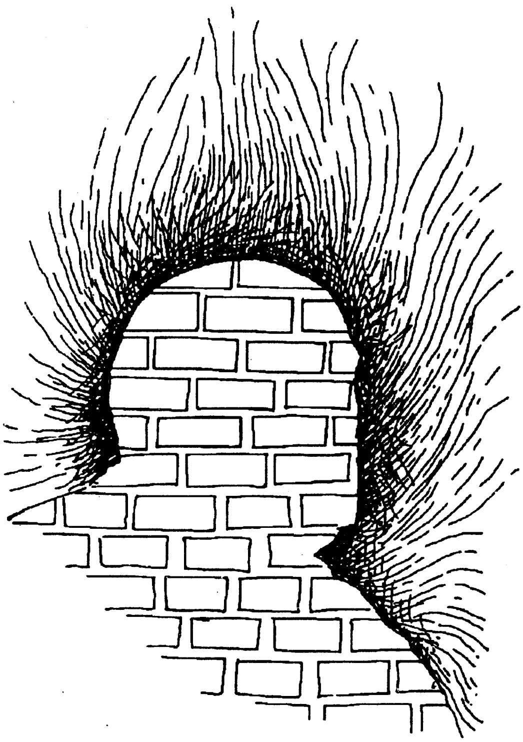

आश्रम का अर्थ है जहां आदमी श्रम करे और श्रम करके गौरव का अनुभव करे। सुख का अनुभव करे। अब श्रम तो है, कम-से-कम श्रम का घटाटोप तो है। श्रम संगठित शक्ति है पर श्रम से कुछ नहीं मिलता है, सुख से श्रम होता है। श्रम करना अच्छी बात नहीं समझी जाती, श्रम का अधिकार पाना अच्छी बात समझी जाती है। जो जितना कम श्रम करके जितना अधिक श्रम का अधिकार प्राप्त करे वह उतना बड़ा श्रमिक। ऐसे में आश्रम कहां से होंगे। आश्रम तो ऐसे श्रम की जगह है जहां वह सौंदर्य है, कुरूपता नहीं, वह पहचान है आदमी की। मैंने कई बार सोचा कि कोई आश्रम जैसी जगह हो जहां 'अजगर करे न चाकरी' वाली स्थिति चाहे न हो, 'पंछी करे न काम' जैसी स्थिति अवश्य हो। जहां मजूरी न करनी हो, मजूरी के लिए काम न करना हो पर निष्प्रयोजन कुछ करते रहना हो, किसी से कोई अपेक्षा न हो, पर मैंने देखा कि आश्रम तो सबसे अधिक अपेक्षाओं के स्थान बन गए हैं।

—विद्यानिवास मिश्र

पर्युषण : प्रेम और सहअस्तित्व का प्रशिक्षण

❑ साध्वी कनकश्री ❑

आज यह महती अपेक्षा महसूस की जा रही है कि सक्रिय प्रशिक्षण के स्रोत ऐसे आध्यात्मिक पर्व विश्वस्तर पर मनाए जाने चाहिए। जब व्यक्ति-व्यक्ति में अहिंसा, प्रेम, करुणा और सहानुभूति जैसे मूल्य प्रतिष्ठित होंगे, तभी अहिंसक समाज और युद्धमुक्त विश्व की परिकल्पना की जा सकती है। श्रेष्ठ समाज और श्रेष्ठ राष्ट्र का केंद्र बिंदु एक श्रेष्ठ नागरिक ही होता है। उसकी श्रेष्ठता का पेरामीटर है—सत्यनिष्ठा, ईमानदारी, भाईचारा, सदाचार, सरलता, कोमलता, सहनशीलता, त्याग, निर्लोभता, वासनाविजय आदि। पर्युषण में इन विशिष्टताओं के विकास का सामूहिक अभ्यास–प्रयास किया जाता है।

मनुष्य ने समाज की भूमि पर जब-जब विषमता के विष-बीज बोए, तब-तब हिंसा, आतंक और घृणा के विषफलों ने मानवता की कमनीय काया को विद्रूप बनाया है, निष्प्राण किया है। मनुष्यता को इस महाविनाश से उबारने के लिए जरूरी है, उसे अहिंसा, प्रेम और सहअस्तित्व का प्रशिक्षण दिया जाए। जैन समाज में व्यापक रूप से मनाया जाने वाला नवाह्निक पर्युषण पर्व इन्हीं जीवनमूल्यों का प्रशिक्षण देने वाला विलक्षण अध्यात्म सत्र है।

आज का मनुष्य व्रत की संस्कृति को भूलकर बम की संस्कृति में जी रहा है। आदमी कहीं भी सुरक्षित नहीं है; न घर में, न ऑफिस में, न सड़क पर, न सार्वजनिक स्थानों में। कब बम का धमाका हो जाए और कब किसका-कितनों का अस्तित्व समाप्त हो जाए, यह आशंका हर समय बनी रहती है।

उपभोक्ता संस्कृति और सुविधावादी मनोवृत्ति ने मनुष्य को क्रूर बनाया है। दूसरों की लाशों पर संपन्नता की मीनारें खड़ी हो रही हैं। दूसरों की बर्बादियों पर उत्सव-उल्लास मन रहे हैं। पशु, पक्षी, पर्यावरण और पेड़-पौधों के प्रति संवेदनहीनता बढ़ रही है। प्राकृतिक ऊर्जा-स्रोतों का बेजा दोहन कर पर्यावरण को तोड़ा जा रहा है। प्राणी जगत के सामने अस्तित्व-सुरक्षा का दुर्निवार संकट खड़ा है। हवा, पानी, मिट्टी और हरियाली का दुरुपयोग तथा असंयत व्यवहारों से पर्यावरण में असंतुलन उत्पन्न हो रहा है। ऐसी विषम परिस्थिति में पर्युषण महापर्व मनुष्य को अहिंसा, संयम, समानता और विश्व-बंधुत्व का संदेश देकर उसे पर्यावरण के प्रति भी सजग-सावचेत करता है। इस दृष्टि से पर्युषण आत्म-संतुलन के साथ दृष्टि-संतुलन का भी प्रशिक्षण देता है।

अतिक्रमण का प्रतिक्रमण

पदार्थ जगत में सुख को तलाशना बहिरात्मभाव का प्रतीक है। चित्तचेतना का बाहरी दुनिया में जितना फैलाव-बिखराव होता है, स्व की अनुभूति का ब्रह्म-कमल उतना ही अधिक सिकुड़ने लगता है। चैतन्य का विस्मरण ही अवसाद और विषाद का हेतु बनता है। आत्म-केंद्रित और स्व-प्रतिष्ठित बनने का प्रेरणास्रोत है पर्युषण। परभाव और विभाव से हटकर स्वभाव में रमण करने का आरामगृह है पर्युषण। आध्यात्मिक ऊंचाइयों का स्पर्श करने के लिए आवश्यक है मन, वाणी तथा देह की प्रवृत्तियों का संयम और चित्तवृत्तियों का परिष्कार। पर्युषण पर्व के आठ दिनों में जैन साधक-आराधक उपवास, आहार-संयम के विशिष्ट प्रयोग, मौन, स्वाध्याय, ध्यान, समता का अभ्यास, व्रतचेतना का विकास, मैत्रीभाव का विस्तार—इन सबका सैद्धांतिक और प्रायोगिक प्रशिक्षण लेते हैं। इन जीवनमूल्यों के अनुरूप स्वयं को ढालने का प्रयास करते हैं। मनुष्य इन जीवनमूल्यों को उपेक्षित कर जब-जब अपनी सीमाओं-मर्यादाओं का अतिक्रमण करता है, अपने सत्, चित् और आनंदमय स्वरूप से दूर होता चला जाता है, दुख-परंपरा का सृजन करने लगता है। इस अतिक्रमण का प्रतिक्रमण करना ही पर्युषण की अंतःप्रेरणा है। इसीलिए मनस्वीजन कहते हैं अपने घर लौट आने का आध्यात्मिक पर्व है पर्युषण।

मानवता का उत्सव

आज सबसे बड़ी अपेक्षा है सहिष्णु, उदार, संवेदनशील, धृतिमान एवं नियंत्रण की क्षमता से संपन्न समर्थ व्यक्तित्वों के निर्माण की। प्रायोगिक प्रशिक्षण द्वारा उत्तम व्यक्तित्वों का निर्माण करना पर्युषण का रचनात्मक उपक्रम है। व्यक्तित्व-निर्माण ही स्वस्थ समाज और चरित्र-संपन्न राष्ट्र की बुनियाद है। इसलिए अपेक्षित है कि ऐसा पावन पर्व किसी धार्मिक समुदाय तक ही सीमित न रहे, इसे राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त हो और यह संपूर्ण मानवता का अपना उत्सव बने। क्योंकि यह पर्व कोई परंपरा या रूढ़ि नहीं है, अपितु इसमें संपूर्ण जीवन-दर्शन निहित है। यह ऊर्ध्वमुखी जीवन-जीने की एक कार्यशाला है, जहां हजारों, लाखों व्यक्ति एक ही समय में अध्यात्म, अनुशासन और अहिंसाप्रधान जीवनशैली का सघन प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं।

अध्यात्मप्रचेता महान धर्माचार्यों, मनस्वी संतों, प्रबुद्ध साध्वियों, मनीषी विद्वानों एवं समर्थ साधकों-प्रशिक्षकों के मार्गदर्शन में देश-विदेशों में बिना किसी आडंबर, प्रदर्शन और आवाज के ऐसे हजारों आध्यात्मिक अनुष्ठान चलते हैं, जिनसे प्रशिक्षण प्राप्त कर अनेक की जीवन-जोत प्रज्वलित हो उठती है। आज यह महती अपेक्षा महसूस की जा रही है कि सक्रिय प्रशिक्षण के स्रोत ऐसे आध्यात्मिक पर्व विश्वस्तर पर मनाए जाने चाहिए। जब व्यक्ति-व्यक्ति में अहिंसा, प्रेम, करुणा और सहानुभूति जैसे मूल्य प्रतिष्ठित होंगे, तभी अहिंसक समाज और युद्धमुक्त विश्व की परिकल्पना की जा सकती है। श्रेष्ठ समाज और श्रेष्ठ राष्ट्र का केंद्र बिंदु एक श्रेष्ठ नागरिक ही होता है। उसकी श्रेष्ठता का पेरामीटर है— सत्यनिष्ठा, ईमानदारी, भाईचारा, सदाचार, सरलता, कोमलता, सहनशीलता, त्याग, निर्लोभता, वासनाविजय आदि। पर्युषण में इन विशिष्टताओं के विकास का सामूहिक अभ्यास–प्रयास किया जाता है।

संवत्सरी : पर्युषण का प्राण

पर्युषण आराधना का आठवां व आखिरी दिवस 'संवत्सरी महापर्व' कहलाता है। यह पर्युषण का प्राण है। इस दिन साधु-साध्वियां और श्रावक-श्राविकाएं उपवासपूर्वक अध्यात्म की विशिष्ट आराधना करते हैं। आत्म-निरीक्षण करते हैं। वर्षभर की कमियों और उपलब्धियों का लेखा-जोखा करते हैं। अपने प्रमाद और आपसी व्यवहारों में पनपी कटुताओं-मलिनताओं का परिमार्जन करते हैं। अतीत का प्रतिक्रमण, वर्तमान में नियंत्रण और भविष्य में पुनः उस प्रमाद को न दुहराने का संकल्प करते हैं। यह दिन चित्त-चेतना के मलों के निष्कासन और संशोधन का अपूर्व अवसर होता है। इस आध्यात्मिक पुरुषार्थ की निष्पत्ति या उपलब्धि का दिन होता है—अगला मैत्री-दिवस।

मानवीय संबंधों का नया क्षितिज

आज के अशांत एवं कलहपूर्ण वातावरण में मैत्री भावना का विकास अपने आप में बहुत ही मूल्यवान है। आज समूचे विश्व परिदृश्य में आपसी वैर-विरोध, संदेह और असंतोष का भाव चरम सीमा पर है। ऐसी स्थिति में विश्व-मैत्री की कल्पना अधिक प्रासंगिक है। वैज्ञानिक और तकनीकी विकास के इस युग में जहां दुनिया की दूरियां सिमट रही हैं, विश्व-परिवार की परिकल्पनाएं परिस्फुरित हो रही है, वहां मनुष्य-मनुष्य के बीच भावनात्मक दूरियां बढ़ रही हैं, घृणा और वैमनस्य की खाइयां दिनोदिन चौड़ी होती जा रही हैं। ऐसी स्थिति में मैत्री-दिवस मानवीय संबंधों को नया क्षितिज देता है। मैत्री-दिवस मनाने का अर्थ है आपसी समझ-पहचान के साथ समन्वय, सहअस्तित्व, समानता और सहयोग की भावना का विकास करना। आज जबकि परिवार टूट रहे हैं, सामाजिक संबंध सिसक रहे हैं, विश्व-बंधुत्व की कल्पना कितनी सार्थक हो सकती है? यह प्रश्न है। किंतु मैत्री-दिवस के माध्यम से व्यक्ति-व्यक्ति के अंतःकरण में प्रेम, सौहार्द और भावनात्मक एकता की स्थापना कर विश्व-बंधुत्व की दिशा में रचनात्मक कदम उठाए जा सकते हैं।

आध्यात्मिक चिकित्सा : 'खमतखामणा'

पारिवारिक एवं सामाजिक समायोजन की दृष्टि से भी इस पर्व का अपरिमित मूल्य है। स्वयं की वृत्तियों एवं व्यवहारों का स्वयं निरीक्षण-परीक्षण कर उनका परिष्कार करना इसकी उल्लेखनीय उपलब्धि है। इसका प्रायोगिक और आकर्षक रूप है—खमतखामणा। इसकी प्रक्रिया है, विगत वर्ष में हुई अपनी भूलों का प्रायश्चित्त करना तथा दूसरों के साथ हुए टकराव, दुराव, तनाव और दुर्व्यवहार के लिए विनम्र, शुद्ध और सरल अंतःकरण से 'खमतखामणा' करना। 'खमतखामणा' का अर्थ है क्षमा का आदान-प्रदान। यानी दूसरों के अप्रिय व्यवहारों को सहना और अपने द्वारा हुए दुर्व्यवहारों को सहने की संबंधित व्यक्ति या समूह को विनम्र अपील करना, निवेदन करना। इसकी प्रक्रिया है—

'जं किंचि पमाएणं न सुट्ठुभे वट्टियं मए पुव्वं।
तं भे खामेमि अहं, निस्सल्लो निक्कसाओय।।'

'मैंने विगत वर्ष में प्रमाद के कारण आपके साथ किंचित् भी असम्यक् बर्ताव किया हो तो मैं निःशल्य और निष्कषाय होकर आपसे खमतखामणा करता हूं।'

→

पावन संस्तवन : हुलसित जन-जन

'श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के चरणों में बैठने का, ज्ञानार्जन का तथा संघीय कार्यों में संपृक्त रहने का सौभाग्य मुझे उपलब्ध हुआ। आप मेरे धर्मगुरु हैं, विद्यागुरु हैं और सब कुछ हैं। मैं इस अवसर पर आचार्यवर से निवेदन करना चाहूंगा कि आप मुझे लंबे समय तक ज्ञानाराधना का अवसर देते रहें और वात्सल्य की वर्षा करते रहें। मैं इस अवसर पर अपनी संसारपक्षीया मां की स्मृति करता हूं। मैं आज जो कुछ भी हूं उनकी बदौलत हूं। मैं छोटा था, वे मुझे साधुओं के पास जाने की प्रेरणा देतीं, जिससे साधु-साध्वियों के प्रति आकर्षण बढ़ा। इसलिए उनका मेरे पर धार्मिक उपकार भी है। मुनिश्री सोहनलालजी (चाड़वास) मेरे वैराग्य के प्रेरक रहे हैं। उन्होंने मुझे वत्सलता के साथ तत्त्वज्ञान सिखाया। उनको भी मैं विस्मृत नहीं कर सकता। मुनिश्री सुमेरमलजी (लाडनूं) जिन्होंने मुझे गुरुनिर्देश से दीक्षित किया, संघीय संस्कारों से संस्कारित किया, उनको भी मैं कृतज्ञता के साथ याद करना चाहता हूं। मैं अपने आपके प्रति भी मंगलकामना करता हूं कि सत्य और समर्पण के प्रति मेरे मन में भक्ति का भाव तब तक बना रहे, जब तक कैवल्य को प्राप्त न हो जाऊं। गुरु-दृष्टि की आराधना में सदा तत्पर रहूं। गुरु-दृष्टि के लिए बड़े से बड़ा कष्ट भी आए तो उसे भी मैं सहन करता रहूं। मेरी आध्यात्मिकता उत्तरोत्तर उत्कृष्ट बने और मैं अपने कर्तव्य का पालन निष्ठा के साथ करता रहूं। चतुर्विध धर्मसंघ का वात्सल्य और विनय उपलब्ध होता रहे। कांटों का ताज सुमनों का ताज बने।'

युवाचार्य मनोनयन के तत्काल बाद व्यक्त उद्गार, भाद्रपद कृष्णा द्वादशी, 2054
14 सितम्बर 1997

'साधना की दो बड़ी बाधाएं हैं—राग और द्वेष। ये दोनों ही कर्मबंधन के बीज हैं। जब मनरूपी समुद्र राग-द्वेषरूपी तरंगों से सर्वथा निस्तरंग बनता है, तब आत्मा का साक्षात्कार होता है। सामान्य तौर पर भी हम देखते हैं कि तालाब पानी से भरा है और चंचल है तो उसका अंतस्तल देख पाना संभव नहीं होता। तालाब के अंतस्तल को तभी देखा जा सकता है जब पानी स्वच्छ और स्थिर हो। दर्पण यदि साफ व स्थिर है, प्रतिबिंब स्पष्ट दिखाई देगा। अन्यथा प्रतिबिंब भी धुंधला दिखाई देगा। आत्म-साक्षात्कार की साधना हेतु पहली आवश्यकता है—राग और द्वेष पर विजय। राग-द्वेष मुक्ति की साधना ही समता है, यही अहिंसा है और यही अध्यात्म का सार है।'

युवाचार्यश्री महाश्रमण
इन दिनों लाडनूं में नियमित प्रवचन के दौरान

→

यह क्षमा के आदान-प्रदान का मनोवैज्ञानिक तरीका है। इससे मैत्री का विस्तार होता है। बरसों से पल रहे मनमुटाव या मनोमालिन्य समाप्त हो जाते हैं। राग-द्वेष की गहरी गांठें खुल जाती हैं। वैर-विरोध का विष धुल जाता है। व्यवहारों में मधुरता घुल जाती है। मानसिक तनावों का विसर्जन होता है। चित्त में अपूर्व आह्लाद उत्पन्न होता है। वास्तव में देखा जाए तो यह उपक्रम मनुष्य की मानसिक, शारीरिक और भावनात्मक बीमारियों का उपचार करने वाली आध्यात्मिक चिकित्सा पद्धति है।

कुल मिलाकर पर्युषण पर्व धार्मिक, आध्यात्मिक एवं नैतिक संस्कारों के अर्जन का, विकारों के विसर्जन का और स्वस्थ मनोभूमि के सृजन का अलौकिक पर्व है, जो प्रतिवर्ष लोक-चेतना को आलोक और उज्ज्वलताओं का नया उपहार दे जाता है। ❖

शाकाहार का मर्म

❑ परिमिता पटवा लोढ़ा ❑

हम जो कुछ खाते हैं केवल वही आहार नहीं है बल्कि बाह्य वातावरण से हम जो कुछ ग्रहण करते हैं वह भी आहार है। जैसी भाषा, जैसे विचार हम ग्रहण करते हैं वह भी आहार है और वह हमारे मस्तिष्क पर बहुत प्रभाव डालते हैं।

शाकाहारी होना—जैन होने की अनिवार्य शर्त है। जैन ही नहीं, अनेक मतावलंबी भी मांसाहार का निषेध करते हैं। दूसरी ओर ब्रिटेन के पूर्व खाद्य और कृषिपालन मंत्री जॉन ब्रूमर जैसे लोग भी हैं जो शाकाहार को सर्वथा अप्राकृतिक मानते हैं। ब्रूमर तो यहां तक कहते हैं—'हम आकाश की चिड़ियाओं और जमीन के जानवरों के मालिक हैं। इसलिए हम उन्हें खाते हैं।' उनका यह कथन सर्वथा अर्थहीन है। मालिक वह होता है जो रक्षा करे। प्राण लेने वाला तो दुश्मन ही होता है और फिर मनुष्य तो स्वयं अपने शरीर का ही मालिक नहीं है—यदि ऐसा होता तो वह अपने आप को बीमार, रोगग्रस्त या बूढ़ा कतई नहीं होने देता। आकाश की चिड़ियाओं और जमीन के जानवरों को अपने समान यदि समझें, उनके प्राण न लें तो हम उनके सहभागी होने के अधिकारी हो सकते हैं। मांसाहार के साथ जीवहिंसा की क्रूरता जुड़ी हुई है और जीवहिंसा करने वाला व्यक्ति कभी भी संवेदनशील इंसान नहीं हो सकता। जैन तो हो ही नहीं सकता।

हिंसा स्वयं में ही अपराध है। वह अनेक अपराधों को भी जन्म देती है। मांसाहार न करने वाला कम-से-कम जीव-हिंसा के अपराध से तो बच ही जाता है। विचारणीय है कि मांस खाने वाले व्यक्ति के पेट में क्या सिर्फ जानवर का मांस ही जाता है, उस जानवर के संस्कार साथ नहीं जाएंगे? जॉर्ज बर्नाड शॉ कहते थे, 'मेरा पेट कब्रिस्तान नहीं है, इसलिए मैं मांस नहीं खाता। मांसाहारी लोग मरे हुए जानवरों की जीवित कब्रें हैं।'

व्यक्ति के आहार और व्यवहार में घनिष्ठ संबंध है। आहार का चयन, भूख के शमन और चेतना के जागरण—दोनों दृष्टियों से किया जाना चाहिए। विवेकपूर्वक खाने में, खाद्य और अखाद्य का भेद करते हुए खाने में शाकाहार का मर्म छिपा है। मनुष्य केवल एक शरीर ही नहीं है कि जो मिल गया वही खा लिया। बल्कि मनुष्य एक चेतनामय आत्मा भी है। शरीर-रचना के आधार पर जानवरों को दो श्रेणियों में बांटा गया है—शाकाहारी और मांसाहारी। जानवरों की शरीर-रचना और क्रिया में जो अंतर हैं उनके महत्त्वपूर्ण पहलू निम्न हैं—

शाकाहारी

- पानी जीभ निकालकर नहीं पीते बल्कि पानी में मुंह डुबाकर पीते हैं।
- दांत और नाखून सपाट होते हैं।
- पाचन मुंह से शुरू होता है।
- पेट की आंतें लंबी होती हैं।

मांसाहारी

- पानी जीभ से चाटकर पीते हैं।
- दांत और नाखून नुकीले होते हैं।
- पाचन आमाशय से शुरू होता है।
- पेट की आंतें छोटी होती हैं।

मनुष्य की तुलना शाकाहारी जानवरों से ही की जा सकती है। मांसाहार मनुष्य ने अभ्यास से सीखा है।

जैन धर्म में शाकाहार के साथ-साथ 'आहार-अनुशासन' पर बहुत बल दिया गया है। आहार और आदतों का भी गहरा संबंध है। आहार को भली प्रकार समझ लें तो बुरी आदतों को भी बदला जा सकता है। हम जो कुछ खाते हैं केवल वही आहार नहीं है बल्कि बाह्य वातावरण से हम जो कुछ ग्रहण करते हैं वह भी आहार है। जैसी भाषा, जैसे विचार हम ग्रहण करते हैं वह भी आहार है और वह हमारे मस्तिष्क पर बहुत प्रभाव डालते हैं। व्यक्ति ने शराब पी, मस्तिष्क पर

नियंत्रण ढीला हो गया, व्यक्ति पागलों जैसी हरकतें करने लगा, यह भी आहार का ही प्रभाव है। व्यक्ति का संपूर्ण जीवन आहार अर्थात् भोजन से बंधा है। पूरी वृत्तियां, पूरा जीवनचक्र सभी भोजन से संचालित होते हैं।

भोजन तीन प्रकार का होता है—जीवनीय, वृंहणीय और दीपनीय। जीवनीय भोजन जीवनशक्ति को बढ़ाता है, वृंहणीय भोजन शरीर को हृष्ट-पुष्ट रखता है, दीपनीय भोजन अग्नि का दमन करता है। भोजन की तरह ही द्रव्य भी तीन प्रकार के होते हैं—शमन करने वाले, कुपित करने वाले और संतुलन रखने वाले। अर्थात् कुछ द्रव्य ऐसे होते हैं जो वात, पित्त और कफ को बढ़ावा देते हैं, कुछ उनका शमन करते हैं और कुछ संतुलन रखते हैं। जो द्रव्य पित्त को बढ़ाते हैं, वे क्रोध को भी बढ़ाते हैं क्योंकि क्रोध और पित्त का गहरा संबंध है। जिस व्यक्ति का कफ कुपित होता है उसका लोभ भी कुपित होता है। जिनमें कफ का प्रकोप बना रहता है वे लालची प्रवृत्ति के होते हैं। जिस व्यक्ति में वायु कुपित रहता है वह हमेशा निराशा, 'डिप्रेशन' और मानसिक तनाव से घिरा रहता है। अतः इस बात का विशेष खयाल रखना चाहिए कि हमारे भोजन में वात, पित्त और कफ पर प्रभाव डालने वाले तत्त्वों का संतुलन बना रहे।

माना जाता है कि मीठा रस कफ की वृद्धि करता है और वात का शमन करता है। मीठी वस्तुएं जरूर खाई जाएं, परंतु इस बात का खयाल भी रखा जाए कि मिठाई खाने में कम-से-कम दो दिन का अंतर अवश्य रहे। इससे संतुलन भी बना रहेगा, धर्मानुसार त्याग की भावना भी उत्पन्न होगी और स्वास्थ्य भी अच्छा रहेगा। अम्ल रस अर्थात् खट्टी चीजें पित्त को बढ़ाती हैं और वायु का नाश करती हैं। खट्टी चीजें स्त्रियों के लिए तो फिर भी लाभदाई हैं, परंतु पुरुषों के लिए तो सर्वथा निषिद्ध है। किंतु अब क्या पुरुष और क्या स्त्री—भोजन के बाद 'खाटे' की गोली खाना तो जैसे अनिवार्य ही है। यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि भोजन के तुरंत बाद खटाई खाने से पाचन क्रिया गड़बड़ा जाती है। हम लकीर के फकीर न बनें, पर मन में इतना संकल्प रखें कि संयम से खाना है।

भोजन में तीसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है लवण तत्त्व। यह भी पित्त को बढ़ाता है। सामान्यतः एक आदमी को दिन में एक या दो ग्राम नमक पर्याप्त होता है। यदि हम इससे अधिक नमक खाएंगे तो पित्त की मात्रा बढ़ेगी। भोजन में ऊपर से नमक नहीं लेना है—यही बहुत बड़ा त्याग है।

भोजन में संतुलन के साथ-साथ संयम का होना अत्यंत आवश्यक है। व्यक्ति अपने आहार पर नियंत्रण नहीं रख पाता। जब कोई मनभावन खाद्य वस्तु सामने आती है तो व्यक्ति अपना संयम, नियम भूलकर उस वस्तु पर टूट पड़ता है। तपस्या करना, उपवास करना कठिन है परंतु खाते हुए संयम रखना या संयमपूर्वक खाना और भी कठिन है। व्यक्ति क्या खाए, कैसे खाए, कितनी बार खाए और किस समय खाए, ये बहुत विचारणीय प्रश्न हैं। परंतु आज कोई भी इस दिशा में नहीं सोचता। आज सोच की एक ही दिशा है और वह है सुविधा। सुविधा से जो भी मिले, जब भी मिले, जैसा भी मिले और जिस समय भी मिले, खा लिया जाता है। न कोई नियम है और न कोई संयम है। जैन धर्म में सूर्यास्त-पूर्व भोजन का विधान है। यह वैज्ञानिक दृष्टि से भी सत्य है कि भोजन की पाचन क्रिया सूर्य की किरणों में ही सुचारु रूप से हो सकती है। रात्रि भोजन के कुछ समय पश्चात् ही व्यक्ति नींद के आगोश में चला जाता है। सोते समय 'पाचन रस' भी कम बनते हैं और आमाशय भी आराम की स्थिति में चला जाता है। वस्तुतः भोजन मुश्किल से ही पच पाता है। अतः भोजन सूर्यास्त-पूर्व ही किया जाए। अस्वस्थता की स्थिति में तो यह अनिवार्य ही है।

मधुर, अम्ल और लवण इन तीनों रसों का संतुलन हम बनाए रखें तो वात, पित्त और कफ स्वतः संतुलित रहेंगे। यदि व्यक्ति इतना विवेक जगा लेता है, इन छोटी-छोटी बातों को स्वीकार कर लेता है तो वह मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य का सार्थक उपाय कर लेता है। ये छोटी-छोटी बातें हैं, किंतु जीवन में बहुत उपयोगी हैं। स्वस्थ जीवन के आकांक्षी व्यक्ति को इतना संयम करना ही चाहिए। ❖

मित्र

सज्जन लोगों ने अच्छे मित्र के निम्न लक्षण बताए हैं : वह अपने मित्र को पापों से दूर रखता है, उसे अच्छे हितकर कार्यों में लगाता है, उसके गुप्त रहस्यों को छिपाए रहता है और उसके गुणों को उजागर करता है, आपत्ति में उसका साथ नहीं छोड़ता और आवश्यकता पड़ने पर उसे धन भी देता है।

—भर्तृहरि

राजकुमार एकचरण

❑ मुनि सुमेरमल लाडनूं ❑

अगर अंकरण के पैर में पीड़ा पैदा कर दी जाए, तो वह अपने आप स्पर्धा से बाहर हो जाएगा। फिर मुझे प्रथम स्थान स्वतः ही मिल जाएगा। दर्द कैसे हो ? मेरे पास जादू तो है नहीं। एक उपाय है—अंकरण के जूते में नुकीली कील रख दूं।

चक्रवर्ती चन्द्रवर्धन बत्तीस हजार देशों पर एकछत्र शासन स्थापित करके अपनी राजधानी तुंगभद्रा पहुंचा। नगरजनों ने भारी हर्षोल्लास के साथ चक्रवर्ती का भाव-भीना स्वागत किया। मोतियों से बधाया, पुष्पहारों से लाद दिया।

चक्रवर्ती सौहार्द भावना से अपना राज्य चलाने लगा। चक्रवर्ती का पुण्य इतना प्रबल था कि किसी राजा को उसका अनुशासन अप्रिय नहीं लगता था। उसके इशारे पर सबकुछ न्यौछावर करने को सभी तत्पर बने हुए थे। सोलह हजार देवता उसकी मनोकामना पूरी करने के लिए तथा शारीरिक सुरक्षा के लिए स्वेच्छा से लगे हुए थे, फिर भी चन्द्रवर्धन को अहंकार छू नहीं सका। उसका चिंतन था—समृद्धि अनित्य है, मेरा पद अनित्य है, मेरा यह सुंदर शरीर भी अनित्य है अर्थात् सब कुछ अनित्य है। मैं किस पर अहंकार करूं ? किस पर ममकार करूं ? यह एक अवसर मिला है, जिसका समुचित उपयोग कर सकूं तो मेरे लिए आत्मतोष का विषय होगा।

चन्द्रवर्धन ने पूरे भूमंडल को तो मैत्री के सूत्र में बांधा ही, साथ ही कुछ ऐसी व्यवस्थाएं भी दीं, जिससे प्रत्येक व्यक्ति आत्म-सम्मान से पुरुषार्थ कर जीवनयापन कर सके। विकलांगों के लिए हर राज्य में विशेष प्रकार की व्यवस्था कर दी गई थी। माता-पिता आदि की समुचित परिचर्या हो, ऐसा सर्वत्र वातावरण बना दिया गया था।

चक्रवर्ती की दृष्टि में कृतज्ञता सबसे बड़ा मानवीय गुण था। मानवीय कृतघ्नता घोर अपराध था। इस कारण उसके शासनकाल में माता-पिता एवं गुरुजनों का सम्मान उत्कर्ष पर था। चोरी आदि की प्रवृत्ति समाप्त प्रायः थी। आवश्यक वस्तुओं का अभाव नहीं था। चक्रवर्ती का प्रभाव ही कुछ ऐसा था—जिससे अपराध की भावना समाप्त-सी हो गई थी। उसका निर्विघ्न राज्य चलता था। सभी देशों में किसी भी महामारी का प्रकोप नहीं हुआ। किसी भी देश को अतिवृष्टि एवं अनावृष्टि का सामना नहीं करना पड़ा। सभी निश्चिंतता के साथ जीवनयापन कर रहे थे।

चक्रवर्ती के अनेक सुयोग्य पुत्र थे। महारानी भुवन-मंजरी (जो चन्द्रवर्धन को बहुत प्रिय थी) का पुत्र सबसे बड़ा था। वह बहुत खूबसूरत था, किंतु जन्म से दायां पैर घुटने से नीचे नहीं था। बाकी उसका पूरा शरीर सुडौल था। चक्रवर्ती को उस लंगड़े पुत्र तथा उसकी माता के प्रति गहरा अनुराग था। पुत्र का नाम रखा—एकचरण। राजा को काफी विस्मय था—यह लंगड़ा क्यों हुआ ? लंगड़ा होकर भी राजमहलों में क्यों आया ? वह भी मेरी संतान के रूप में क्यों हुआ ? समय आने पर ही इन शंकाओं का समाधान होगा।

एक बार सर्वज्ञ विश्वगुप्त आचार्य उस नगर में पधारे। श्रद्धालु लोगों का दर्शनार्थ तांता-सा लग गया। प्रवचन में भारी भीड़ जमा हो गई। चक्रवर्ती चन्द्रवर्धन अपने पुत्रों सहित दर्शनार्थ आया। राजकुमार एकचरण ने

भी साथ जाने का आग्रह किया। चक्रवर्ती के आदेश से अनुचर उसे पालकी में बैठाकर प्रवचन स्थल पर ले आए और उसे पिता के पास बैठा दिया।

चन्द्रवर्धन के दिमाग में एकचरण के लंगड़ेपन का प्रश्न रह-रह कर उभर रहा था।

सर्वज्ञ विश्वगुप्त आचार्य ने अपना प्रवचन प्रारंभ करते हुए कहा—चन्द्रवर्धन! आज का मेरा प्रवचन तुम्हारे भीतर उभर रहे प्रश्न पर होगा। उन्होंने कहा—यह एक कर्म कहानी है। केवल इसकी नहीं, प्रत्येक प्राणी की अपनी-अपनी कर्म कहानी होती है। जो प्राणी जैसा बीज होता है, वैसा ही फल प्राप्त करता है। स्वकृत कर्मों को स्वयं के द्वारा ही भोगा जाता है, तोड़ा जाता है। तू अपना कर्म भोग रहा है, मैं मेरा कर्म भोग रहा हूं और एकचरण अपना कृत कर्म भोग रहा है। संक्षिप्त में मैं इसकी कर्म कहानी बता रहा हूं।

पूर्व जन्म में एकचरण का जीव काशी राज्य में क्षत्रिय पुत्र था। उसका नाम था—अंबरीस। बड़ा होने पर काशी गुरुकुल में अध्ययन करने के लिए गया। वह एक मेधावी छात्र था। गुरुकुल में उसका अच्छा प्रभाव था। अध्ययन, खेलकूद आदि सभी में आगे रहता था।

उसी गुरुकुल में उसके समवयस्क एवं समान मेधा वाला एक छात्र और था, जिसका नाम अंकरण था। वह भी शरीर से हृष्ट-पुष्ट एवं विनम्र विद्यार्थी था। दोनों का पूरे गुरुकुल में प्रभाव था, सम्मान था। वर्ष में एक बार खेलकूद की प्रतियोगिता होती थी, जिसमें सभी विद्यार्थी भाग लेते थे। प्रथम स्थान प्राप्तकर्ताओं को विशेष रूप से पुरष्कृत किया जाता था। अन्यों को भी छोटे-मोटे पुरस्कार दिए जाते थे। समापन के अवसर पर स्वयं काशी नरेश, नगर के गणमान्य व्यक्ति तथा अन्य संभ्रांत नागरिक भी उपस्थित होते थे। वे भी अपनी ओर से पुरस्कार देकर विजेताओं के उत्साह को द्विगुणित करते थे।

इस वर्ष भी स्पर्धा का समायोजन हुआ। सभी स्पर्धाओं में अंबरीस एवं अंकरण छाए रहे। कुछ स्पर्धाओं में अंबरीस तथा कुछ में अंकरण प्रथम स्थान प्राप्त करते रहे। किसी दूसरे को आगे आने नहीं दिया। अंतिम स्पर्धा दौड़ की थी। सब विद्यार्थियों की दौड़ हो जाने के बाद ये दोनों अंतिम दौर में आमने-सामने आ गए। खेल के समापन दिवस पर काशी नरेश समेत अनेक विशिष्ट व्यक्ति आने वाले थे। उस दिन प्रथम स्थान प्राप्त करना महत्त्वपूर्ण माना जाता था।

उस दिन की पूर्व रात्रि में बिस्तर में पड़े अंबरीस को इसी उधेड़बुन में नींद नहीं आई। वह सोचता रहा—यह स्पर्धा कैसे जीती जाए? अंकरण मेरे से कम स्फूर्ति वाला नहीं है। कल की विजय पर मुझे संदेह है और वास्तव में कल की विजय ही महत्त्वपूर्ण है। इसके लिए विशेष प्रयत्न की आवश्यकता है। अगर अंकरण के पैर में पीड़ा पैदा कर दी जाए, तो वह अपने आप स्पर्धा से बाहर हो जाएगा। फिर मुझे प्रथम स्थान स्वतः ही मिल जाएगा। दर्द कैसे हो? मेरे पास जादू तो है नहीं। एक उपाय है—अंकरण के जूते में नुकीली कील रख दूं। रात्रि में जब वह उठेगा, जूता पहनेगा, कील चुभ जाएगी और मेरा यह स्वप्न साकार हो जाएगा। इस चिंतन को उसने क्रियान्वित कर दिया, कील उसके जूते में सीधी रख दी।

रात्रि में अंकरण लघु शंका के लिए उठा। हमेशा की भांति जूते पहनकर चलने लगा। चलते ही पैर में कील चुभ गई। अंकरण चौंका, वहीं बैठकर कील को निकाला। निकालते ही रक्त की धारा बह चली। उसने कपड़े से पोंछा और उस पर कपड़ा लपेटकर सो गया। रात्रि में कोई दूसरा उपचार भी नहीं था। सब सो रहे थे। वह भी सो गया।

प्रातः अंकरण जगा, तो पैर को सुन्न महसूस किया, उसने उपाध्यायजी को सारी बात कही। उपाध्यायजी ने तत्काल उपचार प्रारंभ किया, किंतु वह स्पर्धा में भाग नहीं ले सका। अंबरीस प्रथम घोषित हो गया, उसे खूब इनाम मिले। एक सप्ताह के उपचार से अंकरण स्वस्थ हुआ, किंतु स्पर्धा से वंचित रहने का उसे अनुताप बना ही रहा। दोनों स्नातक बनकर गुरुकुल से घर आ गए।

अंबरीस सेना में भर्ती हुआ। क्रमशः पदोन्नति होते हुए उच्च अधिकारी बन गया। एक दिन वह घोड़े को घुमाकर वापस जंगल से आ रहा था। उस समय उस जंगल का आदिवासी युवक जंगल में घास इकट्ठा कर रहा था। अकस्मात् झाड़ी से निकलकर जंगली बिच्छू ने उसके पैर में डंक लगा दिया। पूरा शरीर जलने लगा,

शेष पृष्ठ 54 पर

क्षुल्लक सिंह निष्क्रीड़ित तप अभिवंदन

जन्म दिवस
भाद्रपद शुक्ला अष्टमी सं. 1964

'...साध्वी पन्नाजी आज से क्षुल्लक सिंह निष्क्रीड़ित तप की चौथी परिपाटी शुरू कर रही हैं। पहली परिपाटी के पारणे में तो सब ले सकते हैं, दूसरी के पारणे में विगय का वर्जन होता है, तीसरी परिपाटी के पारणे में अलेप होता है, चौथी परिपाटी के पारणे में केवल आयंबिल होता है। छह महीना और सात दिनों की तपस्या। उपवास से प्रारंभ करो, आगे बढ़ते चले जाओ, पारणे में केवल आयंबिल और कुछ नहीं खाना। काफी बड़ी तपस्या है, पर जहां मनोबल होता है, आत्मबल होता है, वहां कोई बात बड़ी नहीं होती, असंभव नहीं होती। आत्मबल के सामंने सब बातें छोटी हो जाती हैं...।

...आज मुझे प्रसन्नता है कि हमारे धर्मसंघ में एक नया तपःकर्म शुरू हो रहा है। ऐसा तपःकर्म है, जिसको बहुत कम लोग कर पाते हैं। बहुत कठिन है ऐसी साधना करना। मुझे तो आश्चर्य होता है कि यह भावना जागती कैसे है? इतना आकर्षण कैसे होता है? साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी ने कहा—'किसी बच्चे को टॉफी का आकर्षण होता है, वैसा ही इनका आकर्षण है।' इनके लिए टॉफी ही है यह। कहते हैं कि साढ़े तीन करोड़ रुआंली है और हर रुआंली में से चौथी परिपाटी, चौथी परिपाटी का नाद हो रहा है। मैं मानता हूं कि यह धर्मसंघ का सौभाग्य है, धार्मिक जगत का सौभाग्य है कि इस प्रकार का कठोर तप करने वाले व्यक्ति हमारे सामने हैं। हम चाहते हैं कि इनकी तपस्या का यह उपक्रम सानंद संपन्न हो। आनंदपूर्वक साधना चले, उत्तरोत्तर यह तप की भावना बढ़ती जाए। यह तप ज्ञान, दर्शन, चारित्र—सबका उन्नयन करने वाला और पूरे धर्मसंघ के लिए प्रेरक बने। मैंने भावना लिखी है प्रेरणा की—

पन्ना दीर्घतपस्विनी, तप का प्रवर प्रकाश। पन्ना दिव्यतपस्विनी, खुले नया आकाश।।
शासन की सुषमा बढ़े, जागे तप की शक्ति। ज्ञान तपोमय संघ में, हो सबकी अनुरक्ति।।'

तप आराधना के समय—(श्रावण कृष्णा तृतीया 2057, 19 जुलाई 2000) आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के मंगल उद्बोधन का अंश

❖❖

'...आपके चरण कमलों में भगवन्! आई अरदास है कि ज्यूं अणचांजी महासतियांजी रे पारणो हो गयो तो मैं भी जाणूं हूं कि आप रे पुण्य प्रताप स्यूं परिपाटी होसी। आ शुद्ध भावना है, पर म्हारै स्यूं कोनी हुवै गुरुदेव! आपकी शक्ति स्यूं होसी। आपकी आज्ञा स्यूं होसी। जिसो आपको मन है, आप सहायता कर-कर ईयांलकी शक्ति दिराओ कि मैं भी चौथी परिपाटी पूरी करूं, ज्ञान में, ध्यान में, मौन में, साधना में आगे बढ़ती रहूं। शासन को काम करती रहूं। आ शुभकामना करूं...।

...आज को दिन कित्तो सुंदर है। तीज, बुधवार, बीं रे मायने राज आयो है। ई स्यूं बेसी राज कांई हुया करै है, फेर ओ संयोग मिलग्यो। आप कृपा कराई। पण मैं अरज करूं—भगवन्! इती शक्ति दिराओ कि मैं आगे बढ़ती रहूं। ध्यान में, ज्ञान में। शासण री सेवा करती रहूं...।'

दिव्य तपस्विनी साध्वी पन्नाजी की भावाभिव्यक्ति का एक अंश

राजकुमार...पृष्ठ 53 का शेष

चलना कठिन हो गया और चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगा। अंबरीस उसके निकट आया, उसे अपने घोड़े पर बैठाकर उसके घर पहुंचाया और वहां उसने जड़ी लगाई, जलन मिट गई और पीड़ा शांत हो गई। तब अंबरीस अपने घर आ गया।

सर्वज्ञ आचार्य ने आगे कहा—अंबरीस तथा उस आदिवासी युवक ने अनेक भवों में परिभ्रमण किया। क्रमशः उस समय का आदिवासी युवक आज तू चक्रवर्ती चन्द्रवर्धन बना है। वह अंबरीस यहां तुम्हारा पुत्र हुआ है, किंतु उन कर्मों के बंधन से एक पैर से लंगड़ा हो गया। वहां इसने तुमको सहयोग दिया था, यहां तू इसको सहयोग दे रहा है। यह है—तुम दोनों की कर्म कहानी। चन्द्रवर्धन! किस जन्म का कृत कर्म किस जन्म में भुगतना पड़ता है, उसका यह प्रत्यक्ष उदाहरण है। ❖

जैन भारती पाठक पहेली

जैन भारती के प्रति बढ़ती अभिरुचि को देखते हुए मार्च अंक से 'जैन भारती पाठक पहेली' शुरू की गई है। हमें आशा है, पाठकगण इसमें दिलचस्पी लेंगे और पाठकीय अभिरुचि का विकास करेंगे।—सं.

नियम

1. यह पहेली जैन भारती के जून, 2000 अंक में प्रकाशित सामग्री पर आधारित है, अतः इस पहेली के उत्तर जैन भारती के जून अंक की सामग्री पर आधारित होने चाहिए। 2. प्रकाशित पहेली के हल/उत्तर दिनांक 3 अक्टूबर, 2000 तक जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर पहुंच जाने चाहिए। प्रत्येक प्रविष्टि पाठक पहेली प्रारूप में ही भरी होनी चाहिए। 3. अधूरे भरे हुए या देर से पहुंचे हलों पर विचार नहीं किया जाएगा। कटी-फटी प्रविष्टियां स्वीकार नहीं की जाएंगी। 4. इस पहेली के सही हल और विजेताओं के नाम नवम्बर, 2000 के अंक में प्रकाशित किए जाएंगे। 5. सर्वशुद्ध हलों में से पुरस्कार का चयन लाटरी-पद्धति द्वारा होगा। प्रतियोगिता में पुरस्कार विजेताओं के बारे में संपादकीय निर्णय अंतिम होगा। इस बाबत कोई पत्र-व्यवहार नहीं किया जाएगा। चयनित प्रथम प्रतियोगी को 151 रुपये का साहित्य अथवा नकद राशि पुरस्कार स्वरूप दी जाएगी, जबकि सर्वशुद्ध हल वाले प्रथम दस प्रतियोगियों को जैन भारती एक साल तक सम्मानार्थ भेजी जाएगी। 6. एक लिफाफे में एक से अधिक प्रविष्टियां भी भेजी जा सकती हैं, लेकिन हर एक प्रविष्टि के साथ कूपन संलग्न करना अनिवार्य है। जिरोक्स (छायाप्रति) या प्रतिलिपि स्वीकार नहीं की जाएगी। 7. लिफाफे पर एक कोने में 'जैन भारती पाठक पहेली' अवश्य लिखा होना चाहिए।

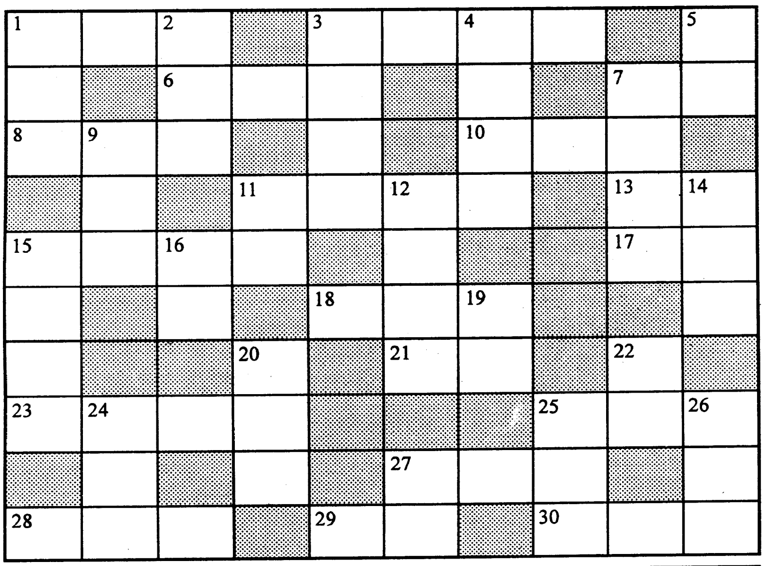

प्रविष्टि कूपन

जैन भारती पाठक पहेली - 0007

नाम प्रतियोगी...उम्र............

पूरा पता...

....

....

बाएं से दाएं

1. आर्थिक समानता के लिए विविध.......हुए। [3]
3. तुम हरितकाय जीव समझो और ऐसा समझकर इनका....... करो। [4]
6. बौद्ध दर्शन-सम्मत सत्.......है। [3]
7. धृति संपन्न व्यक्ति ही उत्कृष्ट.......की आराधना कर सकता है। [2]
8. अपनी.......स्मृतियों, आकांक्षाओं, कल्पनाओं। [3]
10. उन्हें अवक्तव्य बताना क्योंकि उसमें विरुद्ध....... है। [3]
11. सबसे पहले सिद्धसेन.......ने इसका प्रयोग किया। [4]
13. अहिंसावाद, साम्यवाद, अनेकांतवाद और कर्म.......। [2]
15. अनुयोगधर.......निपुण, जित परिषद और आसन्नलब्ध होता है। [4]
17. अस्सी वर्ष की अवस्था में भी उनके पास.......चिंतन है। [2]
18. दुख, संकट.......और मरण इनकी साधना गहरी होती है। [3]
21. भारतीय.......मानस में आज व्यापक स्तर पर अपनी गहरी पैठ बनाए हुए है। [2]
23. खुद अपने.......शांति से जीना चाहती हूं। [4]
25. मौन पुराना.......: साझः। [3]
27. ....विज्ञान के अनुसार इसका संबंध पीनियल ग्रंथि से है। [3]
28. तुम.......थे कि मैं महत्त्वाकांक्षी हूं। [3]
29. लेकिन जेल से.......पाने का आनंद उससे कम नहीं होता। [2]
30. इस पर विचार करने से पहले यह विचार.......जरूरी है। [3]

ऊपर से नीचे

1. जहां तक वह अनुचित या अन्यायपूर्ण ....होती है। [3]
2. यह कंप्यूटर भाषाओं में अब तक नवीनतम और सबसे.......भाषा है। [3]
3. वह शाम तक चिड़े को जरूर.......लेगा। [4]
4. राजा ने.......रानी के आगे हाथ जोड़ दिए। [4]
5. वर्णन करने योग्य.......करो। [2]
7. कल्याणकारी राज्य.......वर्गों पर भारी कर लगाकर। [4]
9. 'समानता'.....जाति के सपनों का सर्वव्यापी आदर्श है। [3]
11. लोग कहते हैं,.......सफेद होता है, रात काली। [2]
12. गोपीनाथ.......के गुरु विशुद्धानंदजी। [4]
14. तुम्हारे वन हम पर........हों। [3]
15. छोटी से छोटी गलती का.......करना पड़ता है। [4]
16. इस विषय में प्रत्यक्षतः.......नहीं की है। [2]
19. ऐसा.......दार अवसर भला गंवाया जाता होगा ?। [2]
20. बैल, घोड़ा, बंदर.......एवं बकरा। [3]
22. जंगल में.......लगने पर अंधा मनुष्य भाग करके भी नहीं बच सका। [2]
24. भेदभाव समानता की पुष्टि करे, उसका.......न करें। [3]
25. मानव जीवन.......समान ही माना जा सकता है। [3]
26. गुणों के आधार समाज.......हो। [3]
27. एक साधारण आदमी समुचित.......या अनंतर कारण को ही जान सकता है। [2]

जैन भारती पाठक पहेली - 0005

सर्वशुद्ध हल व विजेताओं के नाम

प्रथम चयनित विजेता—गौरव सुराणा, तारानगर

1 प्र	यो	2 ज	न		3 स	र्व	र		4 मौ
ण		न		5 स	र्व			6 ज	न
य		7 तं	त्र		8 वि	वे	च	न	
9 न	10 क्ष	त्र		11 आ	दि			क	
	मा		12 जा		13 त	रं	गें		14 नि
	श्र		15 पा	ता					र्यु
16 स	म	र्थ	न		17 अ	नं	18 त	श	क्ति
19 र	ण			20 भा	व		र्क		
जे			21 पू		22 ग्र	ह			23 भू
म्स		24 पू	र्व	ग्र	ह		25 ग	णि	त

अन्य दस चयनित विजेता

1. सुशीला लुणावत, कांदीवली
2. विमला गादिया, चंगलपेट
3. नलिनी नरेन्द्र गटागट, लातूर
4. रूपश्री बैद, मुंबई
5. संगीता देवी भंसाली, गंगाशहर
6. राजेन्द्र कुमार जैन, गुंटकल
7. ममता भोगर, सायरा
8. विमला बोहरा, उदयपुर
9. विनीता बैंगानी, बीकानेर
10. रश्मि झाबक, बीकानेर

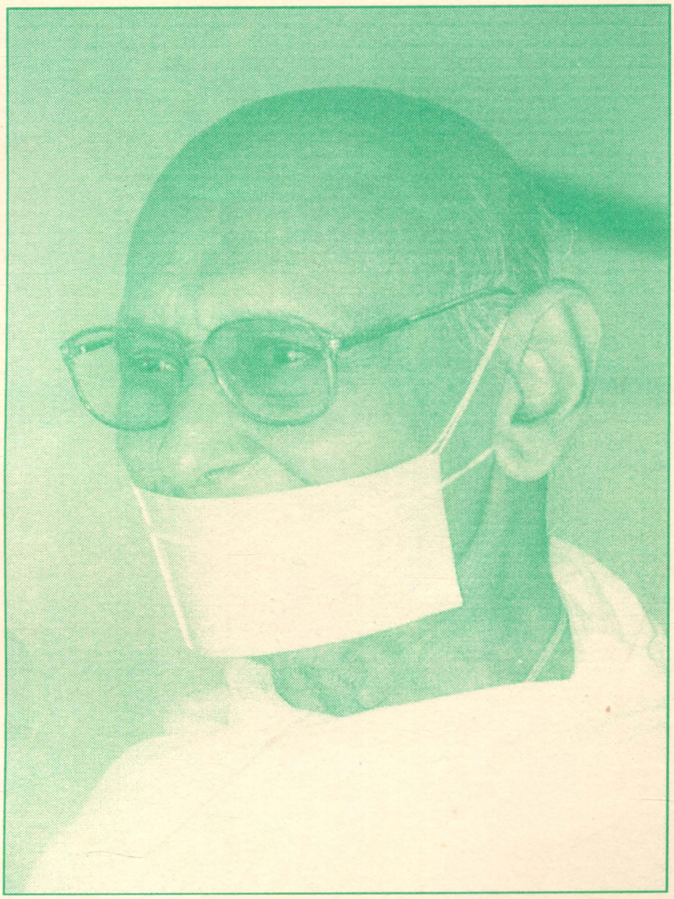

हार्दिक शुभकामनाओं सहित :

हेमराज शामसुखा

विनीत टेक्सफैब लिमिटेड

101, मामुलपेट, बंगलौर 560053

फोन : 2872355, 2871754

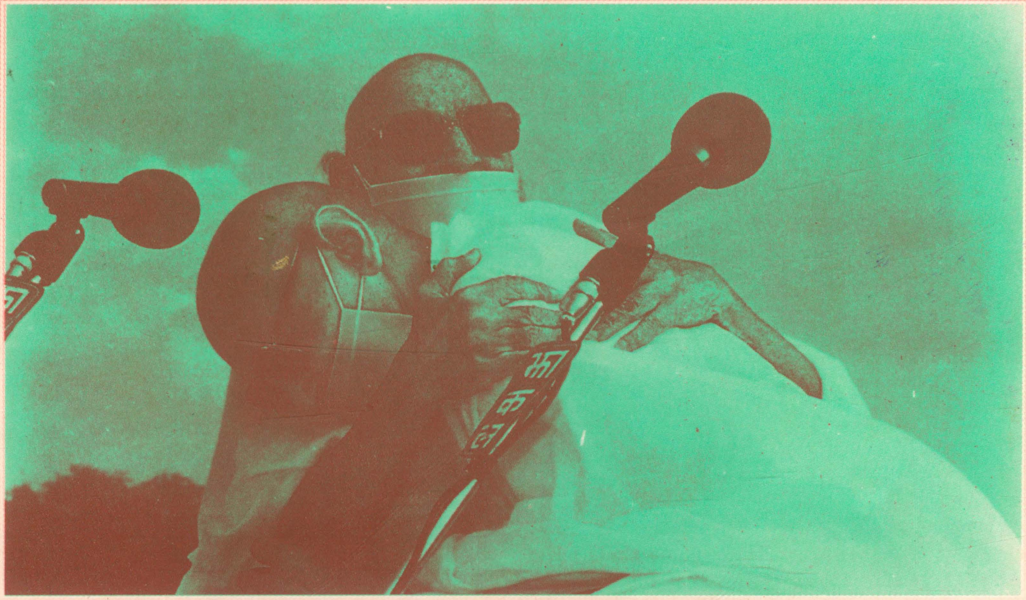

With best compliments from :

SUKHRAJ, BABULAL, TRIBHUVAN KUMAR
ASHOK KUMAR, RAMESH KUMAR SINGHAVI
ASADA-WALA (RAJ.)

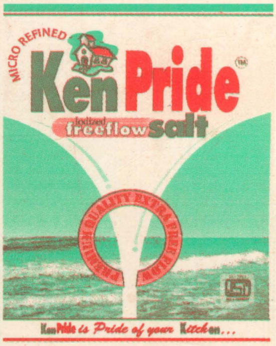

KENPRIDE IS PRIDE OF YOUR KITCHEN

TERAPANTH FOODS LTD.

(A FRIENDS GROUP OF COMPANY)

MANUFACTURERS AND EXPORTERS OF REFINED FREEFLOW IODISED SALT,
PURE GRADE INDUSTRIAL SALT AND ALL TYPES OF EDIBLE AND INDUSTRIAL GRADE SALTS.

REGD. OFFICE :
MAITRI BHAVAN, PLOT NO. 18, SECTOR-8
GANDHIDHAM 370201 GUJARAT (INDIA)
Tel. : 091-2836-32227, 31588 Fax : 091-2836-33924, 56687
E-mail : friends@ad1.vsnl.net.in Grams : Terapanthi

भँवरलाल सिंघी, महामंत्री, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता-1 के लिए
जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।